आर्य्य-संस्कृति और आर्य्य-साहित्य

के

तरुण पुजारी

श्रीमान् राजाबहादुर कौशलेन्द्र प्रतापसिंह

(कोठी-स्टेट)

के

शुभ करों में—

निवेदन

मेरी पिछली निबन्ध-पुस्तक को सहृदय पाठकों ने थोड़े ही समय में जिस प्रचुर प्रेम से अपनाया, उसी से प्रोत्साहित होकर प्रस्तुत प्रयत्न उपस्थित कर रहा हूँ। आशा है, पाठकों को, उनकी सहज-सहृदयता के कारण यह प्रयत्न भी रुचिकर होगा।

'प्राचीन हिन्दी-कविता' शीर्षक निबन्ध में मैंने, प्रयाग विश्व-विद्यालय के इतिहासाध्यापक, आदरणीय डा० रामप्रसाद त्रिपाठी के सत्परामर्शों से बहुत लाभ उठाया है; साथ ही, पुस्तक को प्रस्तुत रूप में उपस्थित करने का प्रोत्साहन भी उनसे प्राप्त किया है, एतदर्थ मैं अनुगृहीत हूँ।

काशी

२८-८-१९३६

शान्तिप्रिय द्विवेदी

दो शब्द

पाठकों के स्नेह-सौजन्य से यह नया संस्करण उनकी सेवा में उपस्थित है। इस संस्करण की माँग इतनी शीघ्रता से हुई कि समयाभाव के कारण इसमें विशेष परिवर्त्तन नहीं किया जा सका।

यह पुस्तक "हमारे साहित्य-निर्म्माता" के बाद की रचना है। "कवि और काव्य" के बाद मेरी अन्य गद्य-रचनाएँ भी पाठकों की सेवा में उपस्थित हैं, "साहित्यिकी" और "सञ्चारिणी"। इनके बाद "युग और साहित्य" भी पूर्ण होकर सेवा में आयेगा।

मुझे सन्तोष और प्रसन्नता है कि नई पीढ़ी ने मेरी रचनाओं को अपनाया है। इस प्रकार उसने मेरे अभावमय जीवन को अपने सद्भाव से भर दिया है।

लेखन-कार्य्य सुखकर नहीं है, ख़ासकर ऐसी स्थिति में जब कि सामाजिक सुविधाएँ प्राप्त न होने के कारण जीवन स्वस्थ न हो। इस दशा में मेरे जैसे श्रमजीवी लेखक को रक्त-बिन्दुओं से ही साहित्य-रचना करनी पड़ती है, माता की भाँति निर्म्माता होकर। इतने आत्मदान के बाद जो रचना सामने आती है उस पर स्वभावतः लेखक को सन्तति की-सी ममता होती है। दूसरों को भी वह सन्तति रुचे तो लेखक का अहोभाग्य।

काशी
२२-७-४० }

शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्राक्कथन

श्रीयुत शान्तिप्रिय जी द्विवेदी को मैं कई वर्षों से जानता हूँ। आप एक उदीयमान लेखक, कवि और कविता के अच्छे पारखी हैं। इधर मुझे आपकी 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' नामक पुस्तक पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस पुस्तक से मुझे आपकी विचार-शैली में एक उच्च कोटि की नवीनता एवं मौलिकता का परिचय मिला। अपने साहित्यिक गुणों को आपने अपनी प्रस्तुत पुस्तक में भी उपस्थित किया है, जो कि सुरुचिशील पाठकों के लिए समीचीन है।

काव्य की आलोचना की आधुनिक शैली प्राचीन परिपाटी से भिन्न है। अँगरेज़ी भाषा के विद्वान् इस शैली से परिचित हैं। द्विवेदी जी पाश्चात्य साहित्य के व्यासङ्ग में बहुत कम रह सके हैं, परन्तु जो साहित्यिक वातावरण आप प्राप्त कर सके हैं उसके माध्यम से आपने आधुनिक ढङ्ग पर हिन्दी की विभिन्न काव्य-धाराओं की विवेचना करने का समुचित प्रयत्न किया है। भाषा, विचार और अभिव्यक्ति-शैली की दृष्टि से पुस्तक कितनी उत्तम है, यह गुणग्राहक पाठक स्वयं देख सकते हैं—'हाथ कङ्गन को आरसी क्या।'

कालीचरण हाईस्कूल
लखनऊ, ता० १४-४-१९३६

कालिदास कपूर

विषय-सूची

कवि और काव्य

—:*:—

काव्य-चिन्तन

भगीरथ ने स्वर्ग से वसुन्धरा पर जाह्नवी की अवतारणा करने के लिए जितनी तपस्या की थी, मनुष्यों के परित्राण के लिए कविता को आविर्भूत करने में कवि को उससे कम तपस्या न करनी पड़ी होगी।

कविता और सभ्यता—मनुष्य को सभ्यता के अपनाने में भले ही विलम्ब हुआ हो, किन्तु कविता को ग्रहण करते उसे बहुत विलम्ब नहीं हुआ होगा। आदिम युग में प्राणिवर्ग जब एक मूक वातावरण में, प्रथम-प्रथम, सबके बीच में रहकर भी एकाकी विचरता रहा होगा, एक किंकर्तव्य-विमूढ़ विस्मय में जब कि जीवन उसके लिए भार-सा प्रतीत हुआ होगा, तब, वह भाषा के अभाव में सङ्केतों से एक दूसरे के निकट आने का, पृथ्वी पर अपने आने की अबूझ पहेली को सुलझाने के लिए सहयोगी बनने का, उपक्रम करता रहा होगा। सङ्केतों से

एक दूसरे के निकट आकर प्राणियों ने अपना समाज बनाया, समाज ने अपने सङ्केतों को भाषा का रूप दिया। परस्पर की अनुभूति ने जब अपने ही तक सीमित न रहकर, दूसरों तक पहुँचने के लिए पथ पाना चाहा, तब साहित्य की सृष्टि हुई। एक की अनुभूति को दूसरे की अनुभूति तक पहुँचाने में कविता ने जिस साहित्यिक सहृदयता का द्वार उन्मुक्त किया, उसी द्वार से एक दिन सामाजिक सभ्यता का प्रवेश हुआ, उसी के द्वारा प्राणियों को एक दूसरे के साथ अपने तारतम्य का बोध हुआ।

सभ्यता यदि प्राणियों की एकतारता को जगाती है तो कविता उसकी रस-विदग्धता को। एक व्यावहारिक कविता है, दूसरी मानसी। मानसी कविता, व्यावहारिक कविता (सभ्यता) की विधात्री है। भले ही सभ्यता आज अपनी विधात्री के संरक्षण से परे होकर केवल दिखावटी लोकाचार के रूप में रह गई हो और वह अपनी विद्रूपता के कारण प्राणिवर्ग को फिर धीरे-धीरे उसी आदिम बर्बर युग में वापस लिये जा रही हो; परन्तु जब कभी इसका पुनरुद्धार होगा, तब कविता के ही कमनीय करों से।

रस—प्रकृति और पुरुष, उस 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' के विश्वकाव्य के दो तार हैं। इन्हीं को बजाकर उसने लोक-जीवन को नाना स्रोतों में प्रवाहित किया है। सुख-दुःख,

मिलन-विरह के युगल पुलिनों को छूकर जीवन के स्रोत उसी परम कवि के चरणों का प्रक्षालन करने के लिए ऋजु-कुञ्चित गति से अविरत बह रहे हैं। इस सम्पूर्ण लोक-काव्य (जीवन) का लक्ष्य फिर उसी कविर्मनीषी में लय हो जाने का है।

काव्य का आदि-रस है शृंगार, जिसकी परिपूर्णता भक्ति में है। प्राणियों के बीच एक दिन हृदय का आकर्षण ही अनेकता में एकता का बोध कराने का प्रथम साधक हुआ था, वही आकर्षण शृंगार के माधुर्य मे घनीभूत हो गया। शृंगार में विरह की भाँति ही, जीवन में वेदना का स्थान अधिक गम्भीर है। अपनी सुख-सुषमा में तो हृदय एक परितृप्त विह्वलता में प्रायः मौन हो जाता है, यथा मधु-गन्ध-तृप्त मधुकर—

"अपने मधु में लिपटा पर,
कर सकता मधुप न गुञ्जन।"

किन्तु हृदय के विदीर्ण होने पर प्रेम की मूर्तिमयी आत्मा रवि ठाकुर के शब्दों में बोल उठती है—

बाँशरि ध्वनि तुह अमिय गरल रे,
हृदय बिदारयि हृदय हरल रे,
आकुल काकलि भुवन भरल रे,
उतल प्राण उतरोय।
को तुहुँ बोलबि मोय।

हेरि हास तव मधुऋतु धाओल,
शुनयि बाँशि तव पिककुल गाओल,
बिकल भ्रमर सम त्रिभुवन आओल,
चरण-कमल जुग छोंय।
के तुहुँ बोलबि मोय!

अतः भाव तो अभावमय जीवन के भीतर से ही, विरहोद्गार की भाँति प्राणों को विदीर्ण करके बाहर निकल पड़ते हैं। इसी लिए कवि के उच्छ्वसित हृदय ने कहा है :—

"वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान;
उमड़कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।"

शृंगार और भक्ति के साथ ही शान्त, करुण और वात्सल्य भी मानव-हृदय के कोमल रस हैं। इन्हीं सहज रसों से सुस्निग्ध होकर मनुष्यता का सुन्दर रूप पूर्णचन्द्र की भाँति प्रस्फुटित होता है। इनके अतिरिक्त और भी रस हैं—रौद्र, वीभत्स, भयानक। इनकी सार्थकता यह है कि ये अपनी उत्कटता से मनुष्य को कोमल रसों के लिए लालायित कर देते हैं।

शब्द और छन्द—वस्तु-जगत् में मनुष्य नाना व्यापारों में तत्पर होकर लोक-चतुर प्राणी बन जाता है। किन्तु साहित्य में आते ही वह पुनः भावुक हो जाता है, यहाँ उसे अपना खोया

हुआ चिरपरिचित हृदय मिलता है। काव्य में उसी मनुष्य-हृदय का शिशु-सुलभ भोलापन बहुत कुछ सुरक्षित रहता है। कविवर रवीन्द्रनाथ कहते हैं—"वयोवृद्धि के होते हुए भी कभी-कभी मनुष्य के भीतर किसी गुप्त छायामय स्थान में बालक-अंश बचा रह जाता है। छन्दप्रियता, ध्वनिप्रियता, वही गुप्त स्वभाव है। हम लोगों का वयोवृद्ध अंश भाव चाहता है, हम लोगों का अपरिणत अंश (शिशु-अंश) ध्वनि और छन्द पसन्द करता है। मनुष्य के इस नाबालिग अंश के कारण ही संसार में थोड़ी बहुत मधुरता है।"

जिस प्रकार सुन्दर अक्षरों के लिए अच्छी निब चाहिए, उसी प्रकार समुचित भाव के लिए समुचित शब्द चाहिए—अनुपयुक्त शब्द भाव को बेडौल कर देते है। एक समान अर्थबोधक अनेक पर्य्यायवाची शब्दों के भीतर से भाव के यथायोग्य शब्द का चुनाव कर लेना, उचित स्थान पर उचित व्यक्ति की नियुक्ति की भाँति ही शोभन जान पड़ता है।

सङ्गीत में जो काम ताल का है, काव्य में वही काम छन्द का। शब्द यदि भावों में साँस भरते हैं तो छन्द भावों को गति देते हैं। किस गति के लिए किस छन्द की उपयुक्तता है, इसके लिए रस-विदग्धता चाहिए, तभी छन्दों का रसानुकूल निर्वाह हो सकता है।

काव्य में रस का वही स्थान है जो पुष्प में गन्ध का। जिस प्रकार विभिन्न सौरभ विभिन्न पुष्पों में अपने अनुरूप आवास

पाते हैं, उसी प्रकार विभिन्न छन्द विभिन्न रसों के लिए पुष्प का प्रतिनिधित्व करते हैं। शब्द से लेकर रस तक काव्य में प्रवाह की एक लड़ी-सी बँधी रहती है—शब्द छन्द को अग्रसर करते हैं, छन्द भाव को और भाव रस को।

चित्र, सङ्गीत और अलंकार—लोक-दृश्य काव्य में चित्र-निर्माण का काम करते हैं। काव्य को छन्द यदि सङ्गीत-कला के निकट ले जाता है तो दृश्य चित्रकला के समीप। इस प्रकार काव्य को सङ्गीत द्वारा रस और चित्र द्वारा रूप प्राप्त होता है। चित्र में नेत्रों का नीरव-सङ्गीत है, सङ्गीत में मन का मुखर-चित्र। नेत्रों से जो दिखाई पड़ता है, उसे मन देखना चाहता है; मन जिसकी कल्पना करता है, उसे नेत्र देखना चाहते हैं। भावों के इसी काव्य-जगत् में—

> "गिरा हो जाती है सनयन;
> नयन करते नीरव-भाषण।
> श्रवण तक आ जाता है मन,
> स्वयं मन करता बात श्रवण।"

किन्तु काव्य की पूर्णता केवल चित्र और संगीत के योग तक ही सीमित नहीं। शरीर और आत्मा से संयोजित प्राणी जिस प्रकार अपने आप में पूर्ण होकर भी अपूर्ण रहता है, उसी प्रकार चित्र और सङ्गीत से सम्बद्ध काव्य भी। काव्य अपने मुक्त भावना-क्षेत्र में, क्षण-क्षण जिन अदृश्य और अगेय

अनुभूतियों में अठखेलियाँ करता है, उन्हें बाँध पाना न तो चित्र की सीमा के लिए सहज है, न सङ्गीत की स्वर-लिपियों के लिए। जो "कहन-सुनन की बात नहिं, लिखी-पढ़ी नहिं जाय" उसे भी काव्य, भाषा के सङ्केतों से, प्रकाशित करने का प्रयत्न करता है।

अलंकार भावों को सुष्ठु रूप में रखने के लिए एक साधन है। सामाजिक परम्पराओं की भाँति इसे भी एक रूढ़ि बना देने से काव्य का स्वाभाविक विकास रुक जाता है। यह ठीक है कि "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलङ्कार है।" यह युक्ति कवि की सहज सूझ से ही अपने को सार्थक कर सकती है। अलङ्कार का महत्त्व अर्थ-चमत्कार में नहीं, बल्कि भाव-गाम्भीर्य्य में है। एक रूपक (अलंकार) द्वारा रवीन्द्रनाथ कितने ही गम्भीर रहस्य-वादी भावों की अवतारणा कर देते हैं।

काव्य के त्रिगुण और त्रिमूर्त्ति--काव्य को सम्पन्न बनाने-वाली वस्तुएँ हैं—विभूति, श्री, ऊर्ज। विभूति में विविध भावों का विपुल-विस्तार, श्री में कोमल कान्त पद-माधुरी, ऊर्ज में पौरुष का ओज सन्निहित है।

जिस प्रकार ये काव्य के त्रिगुण है, उसी प्रकार काव्य की त्रिमूर्त्ति ये हैं—भावना, चिन्तना, प्रभूति। ये अनुभूति के ही त्रिविध स्वरूप हैं। भावना में विष्णु की मनोहरता है, चिन्तना

में शिव की ज्वलन्तता, प्रभूति में ब्रह्मा का अखिल सृष्टि-सन्दोह है। प्रभूति अनुभूति का पुञ्जीभूत विशद रूप है। भावना-द्वारा विश्व की मनोज्ञता (सीता) की अनुभूति होती है, चिन्तना-द्वारा सृष्टि की दुर्द्धरता (राम) का बोध होता है, प्रभूति-द्वारा सरस और विषम विश्व के एक सर्वरूप (यथा—"सियाराम मय सब जग") की अनुभूति होती है। प्रभूति-द्वारा ही कवि जीवन की नाना रूप-सरिताओं का सामुद्रिक सामञ्जस्य करता है। प्राचीन हिन्दी-कविता में सूर इत्यादि कृष्णोपासक भावना के कवि थे, कबीर इत्यादि निर्गुणी सन्त चिन्तना के मनीषी तथा तुलसीदास प्रभूति के सार्वभौम कवि।

काव्य की उक्त त्रिमूर्त्ति के अनुरूप ही यह त्रिवाणी है—'सत्यं शिवं सुन्दरम्'। केवल सत्य, दर्शन का विषय है; केवल शिव (कल्याणादर्श) धर्म्म का विषय है; केवल सुन्दर, कला का विषय है। सुन्दर का सम्बन्ध भावना से है, इसके सहयोग से वाणी के शेष रूप रस-स्निग्धता प्राप्त करते हैं। सत्यम् का सम्बन्ध चिन्तना से है। शिवम् का सम्बन्ध प्रभूति से है। शिवम् के देवाधित्व (प्रमुखता) के लिये सत्यम्-सुन्दरम् अपने को उसमें लय कर देते हैं।

नूतनता और भाव-अपनाव—जिस प्रकार सफल चित्र-कार एक ही प्रकार के तूलिका, रङ्ग और चित्रपट को पाकर भी ऐसा चित्र अंकित कर देता है जो दूसरों के चित्रों के समान लगने पर भी उनसे भिन्न होता है, उसी प्रकार प्रत्येक सफल कवि

कल्पना-भावुकता तथा अपने समय की अन्य साधारण सुविधाओं को दूसरों के समान ही ग्रहण करके उनको अपनी संवेदना में इस प्रकार अनुरञ्जित कर देता है कि उसकी रचनाएँ जनसाधारण की विभूतियों के कारण सबकी और कवि की विशेष आत्माभिव्यक्ति के कारण सबसे भिन्न लगती हैं। कवि नये सत्य को खोज नहीं निकालता, वह तो केवल सनातन-सत्य को ही एक विशेष और नवीन दृष्टिकोण से देखकर दूसरों के लिए भी सुलभ करता है।

चिरन्तन काव्य-प्रवाह के साथ कवि-हृदय के सहयोग के त्रिसाधन ये हैं—अनुकरण, अनुसरण, संग्रहण। अनुकरण में कवि-प्रतिभा की मन्दता, अनुसरण में कवि-प्रतिभा की जागरूकता, संग्रहण में कवि-प्रतिभा का प्रस्फुरण है। संग्रहण में अनेक युगों की काव्य-विशेषताओं का सन्धान कर कवि अपनी प्रतिभा को विदिशित (विशेप दिशा में उन्मुख) करता है। काव्यगत सहयोग के इस सूक्ष्म पार्थक्य को ध्यान में न रख सकने के कारण कभी-कभी सभी प्रकार के कवियों पर भावापहरण का आरोप लगा दिया जाता है।

भावापहरण और भाव-अपनाव, ये दो भिन्न वस्तुएँ है। संस्कृत-साहित्य मे इस विपय का एक निर्देश इस प्रकार है—

जो दूसरों का भाव लेकर 'अपनेपन' का भ्रम उत्पन्न करे वह 'भ्रामक' है।

जो दूसरों के भावों का स्पर्श मात्र करे, वह 'चुम्बक' है।

जो दूसरों का सब माल लूटकर स्वयं सर्वेसर्वा बन जाय, वह 'कर्षक' है।

जो दूसरों के भावों में भी अपनी विदग्धता रखता हो, वह 'द्रावक' है।

इस निर्देश के भी अनेक भेदोपभेद हैं। उक्त निर्दिष्ट भेदों में 'चुम्बक' और 'द्रावक' का प्रयत्न अनिन्द्य है, इनमें केवल भाव-अपनाव की सहज प्रवृत्ति है। 'भ्रामक' का प्रयत्न निकृष्ट और 'कर्षक' का प्रयत्न निकृष्टतम है, क्योंकि इनमें भावापहरण की ही प्रवृत्ति प्रबल है।

अन्य बातें—हमारे जीवन की कहानी की तरह ही कविता के भी तीन पहलू है, जैसा कि उर्दू कवि ने कहा है—

"सुनता हूँ बड़े ग़ौर से अफ़सानए हस्ती
कुछ ख्वाब है, कुछ अस्ल है, कुछ तर्ज़ अदा है।"

अर्थात्—मैं बड़े ग़ौर से जीवन की कहानी को सुन रहा हूँ, जिसमें कुछ स्वप्न है, कुछ यथार्थ है और कुछ कहने का ढङ्ग है।

ठीक यही बातें कविता में भी देखी जा सकती हैं। कविता में कभी कुछ यथार्थ अर्थात् वस्तु-जगत् की बातें रहती हैं, कभी कुछ स्वप्न अर्थात् अन्तर्जगत् की बाते रहती हैं—जिन्हें हम कल्पना की उड़ान कह सकते हैं; और कभी कुछ कहने का ढङ्ग-मात्र रहता है। यह कहने का ढङ्ग (शैली) ही काव्य में कहीं अभिधा, कहीं लक्षणा, कहीं व्यजना है।

कहने के ढङ्ग से दो प्रकार की रचना हो सकती है—एक भावमय, दूसरी सूक्तिमय। काव्य और सूक्ति दो भिन्न वस्तुएँ हैं। शुक्लजी के शब्दों में—"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उससे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढङ्ग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।" अशोभन होने पर यही सूक्ति दुरुक्ति हो जाती है।

वस्तु-जगत् और भाव-जगत्—शरीर की अपेक्षा जिस प्रकार आत्मा का महत्त्व अधिक है, उसी प्रकार वस्तु-जगत् की अपेक्षा अन्तर्जगत् (भाव-जगत्) का गौरव अधिक है। वस्तु-जगत् विचारों और स्थूल अनुभवों को जन्म देता है, जो लोक-व्यवहार की वस्तु हैं। अन्तर्जगत् भावों और सूक्ष्मतम अनुभूतियों की उद्भावना करता है, जो मनुष्य के मानसिक उपचार के लिए रसायन हैं। वस्तु-जगत् का यथार्थ कथा-साहित्य की विभूति है, अन्तर्जगत् का यथार्थ काव्य-साहित्य का ऐश्वर्य। अन्तर्जगत् स्वप्नों की ही भाँति अप्रत्यक्ष है, किन्तु वहीं लोक-हृदय को विश्राम मिलता है।

बाह्य-जगत् में हम जो कुछ देखते हैं, उसका केवल वस्तु-रूप ही हमारे भीतर स्थान नहीं बनाता, बल्कि उससे उद्भूत एक-एक मनोभाव भी हमारे हृदय-नीड़ में विहग की तरह स्वतः बस

जाते है। युग-युग के उन्हीं भावों का संसार हमारे अन्तर्जगत् को आबाद करता आया है। वस्तु-जगत् का यथार्थ यदि हमारे सामने "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" के रूप में प्रोजिक होकर आता है तो वही अन्तर्जगत् की काव्य-शोभा में "नीरसतरुरिह विलसति पुरतः" हो जाता है। कवि सत्य को रूढ़ रूप में नहीं, बल्कि मन के सौंदर्य से स्निग्ध बनाकर उपस्थित करता है। कवि का सौन्दर्य—आत्मा और जड़ के बीच एक सेतु है। अथवा सौन्दर्य चेतना का चेतन है, जो जड़ को भी सचेतन करता है। बाह्य जगत् हमारे मन के अन्दर प्रवेश करके एक दूसरा जगत् बन जाता है। उसमें केवल बाह्य जगत् के रङ्ग, आकृति तथा ध्वनि इत्यादि ही नहीं होते, अपितु उनके साथ हमारा अच्छा-बुरा लगना, हमारा भय-विस्मय, हमारा सुख-दुःख भी मिला रहता है। वह (अन्तर्जगत्) हमारी हृदय-वृत्ति के विचित्र रस में नाना प्रकार से आभासित होता है। जिस प्रकार जगत् अनेक-रूपात्मक है, उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक-भावात्मक है।

कविवर रवीन्द्र के शब्दों में—"सृष्टि के जिस अंश के साथ हमारे हृदय का संयोग है अर्थात् सृष्टि के जिस अंश से हमारे मन में सिर्फ ज्ञान का उदय ही नहीं, बल्कि हृदय में भाव का भी सञ्चार हो जाता है (जैसे फूल के सौदर्य और पर्वत के महत्त्व से बहिर्ज्ञान प्राप्त होता है, साथ ही एक भाव भी उदय होता है) उस अंश में न जाने कितनी निपुणता दिखलानी पड़ती है, कितना रङ्ग ढालना

पड़ता है और कितनी ही धूमधाम और आयोजन की आवश्यकता पड़ती है—फूल की प्रत्येक पंखुड़ी को न जाने कितने परिश्रम से सुगोल और सुस्निग्ध बनना पड़ता है और पुष्प-तरु के मस्तक पर कितनी मनोज्ञ बङ्किम भावभङ्गी के साथ उसे सुशोभित करना पड़ता है; पर्वत के उत्तुङ्ग शृङ्ग को तुषार का मुकुट पहनाकर नीलाकाश में कितने गौरव और महत्त्व के साथ प्रतिष्ठित करना पड़ता है; पश्चिमी समुद्र के किनारे सूर्यास्त के पीत पट के ऊपर न जाने कितने रङ्ग झलकाने पड़ते है, कितनी कला दिखलानी पड़ती है। पृथ्वी से लेकर आकाश तक कितनी सज-धज, कितना रूप-रङ्ग, कितनी भाव-भङ्गी चित्रित, सुशोभित और विमण्डित करनी पड़ती है, तब जाकर कहीं मन भरता है। ईश्वर ने अपनी रचना में जहाँ प्रेम, सौन्दर्य और महत्त्व प्रकट किया है, वहाँ उन्हें भी कारीगरी करनी पड़ी है; वहाँ उन्हे भी ध्वनि और छन्दो, वर्ण और गन्धों का बड़े परिश्रम के साथ विचत्र संयोग करना पड़ा है! वन में जो फूल खिला है, उसे भी न जाने पँखुड़ियों के कितने अनुप्रासो से अलंकृत करना पड़ा है। आकाश-पट पर एक ज्योतिर्शिखा (सौर-चक्र) को प्रकट करने में ईश्वर को कितने ही निर्दिष्ट और सुसंयत छन्दो की रचना करनी पड़ी है; वैज्ञानिक लोग आज तक इसका निश्चय नहीं कर सके। भाव को प्रकट करते समय मनुष्य को भी नाना प्रकार के कौशलों को प्रकट करना पड़ता है।.. इसे यदि कृत्रिमता कहते है तो सारा संसार ही कृत्रिम है।"

अन्तर्जगत् की उक्त साधना ही साहित्य में भावयोग है, जो कर्मयोग और ज्ञानयोग की भाँति एक श्रेष्ठ योग है। इसी लिए काव्य को ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा गया है। शुक्लजी के शब्दों में—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"

कविता और कला—भावों को मनोरम रूप में उपस्थित करने के लिए कविता कला को अपनाती है। काव्य में कला के बाह्य उपकरण हैं—शब्द, छन्द और शैली। वाणी के ये बाह्य अवयव, भावों की बाह्येन्द्रियाँ हैं; काव्य-जगत् में ये शिष्टाचार का काम करती हैं। भाव स्वभाव की वस्तु हैं; शब्द, छन्द और शैली अभ्यास की। जिस प्रकार ये काव्य-कला के बाह्य उपकरण हैं, उसी प्रकार कल्पना कला का अन्तःकरण है, जिसे हम भावों का सूक्ष्म शरीर कह सकते हैं।

कल्पना के ही पङ्खों में अवस्थित होकर भाव अग-जग की झाँकी लेता है। कल्पना अनुभूतिशील भावना को किस प्रकार साकार करती है, इसका एक उदाहरण है कोई परी। किसी रमणी और किसी विहंगिनी की सम्मिलित सौन्दर्यानुभूति ने कल्पना के पङ्खों में परी का रूप पा लिया।

कल्पना के पङ्ख कभी मयूर-पङ्ख की भाँति रङ्गीन, कभी कपोत-पङ्ख की तरह उज्ज्वल होते हैं; कारण, मनुष्य-स्वभाव की भाँति ही भाव भी कभी फैन्सी सज धज पसन्द करते है, कभी केवल सादगी। परन्तु जिस प्रकार जीवात्मा, जीवकोष (सूक्ष्म शरीर) से पृथक् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी रखता है, उसी प्रकार भाव कल्पना से रहित होकर भी अपने को व्यक्त करता है।

काव्य-कल्पना के पङ्ख, जहाँ तितली की अनुरागिणी आत्मा का नहीं, बल्कि केवल उसके अनुरञ्जित बाह्य कलेवर की रङ्गसाज़ी का ही प्रदर्शन करते हैं, वहाँ वे हमारे बाह्य नेत्रों को ही लुभाकर रह जाते हैं; परन्तु कविता जब अपने मधुप के-से स्वर्ण-पङ्ख फैलाकर, कसक के काँटों-काँटों में छिदकर, शब्दों के पल्लव-पल्लव में छिपकर अनुभूति-पूर्ण मधुमय जीवन-गुञ्जार करती है, तब वह हमारे कानों तक ही नहीं, मर्मस्थल तक पहुँच जाती है। कल्पना में केवल भावना की उड़ान ही नहीं, बल्कि उसकी विदग्धता भी अपेक्षित है।

मनुष्य और मनुष्येतर प्रकृति—कविता, मनुष्यों की ही नहीं, अपितु चराचर-व्याप्त प्रकृति की साँस है। मनुष्य भी प्रकृति का ही एक श्रेष्ठ अंश है। यदि हम जीव-जन्तुओं एवं तृण-लताओं की भाषा समझ सकते तो देखते कि वे भी अपनी-अपनी दुनिया में यही साँस लेते हैं। इसका आभास कभी-कभी उस समय मिल जाता है, जब सङ्गीत से

मुग्ध होकर विषधर अहि को भी नृत्य करते हुए देखते हैं, अथवा वंश की मर्म मधुर ध्वनि से हृदय-विह्वल होकर, चौकड़ी भरते हिरन को निश्चल निर्वाक् होते। इसी लिए सङ्गीत की महिमा में कहा गया है कि उसमें वह मार्मिकता है जो जड़ीभूत पाषाण को भी चेतन की भाँति द्रवीभूत कर देती है। दीपक राग से दीपशिखा का ज्वलित हो उठना, इसी मार्मिकता का एक सजीव विश्वास है।

हाँ, कवि ने अपने विश्व का निर्माण केवल मानुषी प्रकृति से ही नहीं किया है, बल्कि मनुष्येतर प्रकृति से भी सम्बद्ध कर उसे परिपूर्ण बनाया है। मानवी सुन्दरता के लिए मनुष्येतर प्रकृति से उपमाओं का सङ्कलन इसका प्रमाण है। उन उपमाओं द्वारा कवि ने नाना-रूप प्रकृति के साथ मानव-जीवन की सगोत्रता एवं एकरूपता को प्रत्यक्ष किया है।

मनुष्य ने मनुष्येतर प्रकृति से सौन्दर्य ही नहीं, स्वर भी प्राप्त किया है। स र ग म इसके साक्ष्य हैं,—षड्ज की ध्वनि मोर से, ऋषभ की ध्वनि गाय से, गान्धार की ध्वनि अज से, पञ्चम की ध्वनि कोयल से, धैवत की ध्वनि अश्व से, निषाद की ध्वनि हाथी से संगृहीत है।

कविता और विज्ञान—वर्तमान युग में कवि और वैज्ञानिक, ये दो मानव-प्रतिनिधि अपने-अपने ढङ्ग पर विश्व-जीवन का समाधान लेकर चले है। विज्ञान मस्तिष्क का चरम उत्कर्ष

है, काव्य हृदय का परम उत्थान। विज्ञान का उत्कर्ष मृत्यु को ओर समीप कर देता है, काव्य का उत्कर्ष जीवन को नव-नव संजीवन देता है। विज्ञान पश्चिम के दुर्द्धर्ष पुरुष के रूप में मस्तिष्क को उद्‌बुद्ध कर देता है, कविता आर्य-नारी की भाँति हृदय को सहज सजग करती है।

कवि और वैज्ञानिक, दोनो विश्व के भीषण कुरुक्षेत्र में एक साथ उतरते है, किन्तु एक दुर्योधन की भाँति ऐन्द्रिक-शक्ति लेकर, दूसरा भीष्म के समान अतीन्द्रिय होकर। रणक्षेत्र के भीतर भी भीष्म-जैसा हृदय का एकान्त-वासी कौन था? बाह्य शरीर से वह युद्ध-मग्न थे, किन्तु अंतःशरीर से ध्यानावस्थित। उनका नाशमान शरीर बाण-विद्ध हो गया था, किन्तु अन्तःशरीर का आनन्द कहाँ भङ्ग हुआ? कवि भी इसी प्रकार लोक-व्यापार में रहकर भी नहीं रहता। बाह्य विश्व का सङ्घात तो उसकी आत्मा को और भी उज्ज्वल कर देता है; इसी लिए कवि ने कहा है—

तप रे मधुर-मधुर मन!
विश्व-वेदना में तप प्रति पल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन!

वैज्ञानिक यदि केवल एक दुर्द्धर्ष पुरुष-मात्र है तो कवि एक साथ ही प्रकृति और पुरुष दोनों है। अर्द्ध-नारीश्वर शिव कवि

का ही स्वरूप है, उसका पौरुष वज्र के समान कर्म-कठोर है और नारी-सुलभ हृदय—

"सुखद शीतल कमल-कोमल
त्रिविध ज्वाला-हरण"—है।

एक वैज्ञानिक कह सकता है—"वीरभोग्या वसुन्धरा।" किन्तु एक कवि कहेगा—प्रेम का पराक्रम ही सर्वश्रेष्ठ है, इसी लिए,—"प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर"। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के अनुसार वैज्ञानिक बाँस की लाठी को अपना सम्बल बना सकता है, किन्तु कवि का तो सम्बल है बाँस की वंशी। वैज्ञानिक अपनी लाठी से लोक-संहार कर सकता है, लोक-निर्माण नहीं; कवि की वंशी लाठी द्वारा क्षत-विक्षत हृदय को मधुर शीतल कर सकती है। वस्तु-जगत् में विज्ञान का जो स्थूल सत्य है, वही अन्तर्जगत् में कवित्व का रस-स्निग्ध भाव है। प्राणी भाव का भूखा है, वह भाव-विभोर होकर मीरा की तरह हँसते-हँसते हलाहल को भी पी सकता है।

मनुष्य के शरीर पर जितना भार इन्द्रियों का नहीं है, उससे कहीं अधिक दुर्वह भार विज्ञान नित नई-नई आवश्यकताओं के आविष्कार द्वारा मनुष्य के जीवन पर लादता जा रहा है। बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करके भी विज्ञान हृदय को शान्ति नहीं दे पाता। किन्तु कवि वंशी के रिक्त रन्ध्रों-जैसे अभावमय जीवन को भी हृदय के माधुर्य से परिपूर्ण कर देता है।

वैज्ञानिक यदि एक अद्भुत करामाती जीव है, तो कवि आत्मा का एक सरल शिल्पी। करामात दिखलाने के लिए विज्ञान ने संगीत पर भी धावा बोल दिया है, ग्रामोफोन इसका उदाहरण है। उसका संगीत ऐसा लगता है मानो इस जीवित लोक मे अदृश्य लोक से कोई भूतपूर्व प्राणी नाच-गा रहा हो। ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य में जो कुछ है, उसे यन्त्रबद्ध करके विज्ञान अर्थ-लिप्सु स्वामी की भाँति मनुष्य को छुट्टी दे देना चाहता है। विज्ञान हृदय को पिञ्जर-बद्ध कर सकता है; किन्तु काव्य प्रदान कर सकता है हृदय को मुक्त संगीत। संगीत द्वारा हृदय के भार को जिस वृत्ति मे हम विस्मृत कर देते हैं, उसे ही कहते हैं अलौकिक आनन्द। विज्ञान द्वारा उपेक्षित मनुष्य के हृदय को सहलाकर काव्य उसे जीवन की स्नेह-पुलक से पुनः-पुनः भर देना चाहता है, पृथ्वी पर उसे भी चिरञ्जीव रहने देने के लिए।

कभी-कभी अपने पीड़ित क्षणों में अल्फ्रेड नोबुल की भाँति वैज्ञानिक भी कविता को ही प्यार करता है। रण-क्षेत्र के परिश्रान्त सैनिक जिस प्रकार अपने शिविर को लौटते हैं, उसी प्रकार अपने गद्यवत् उद्योगों से क्लान्त होकर विज्ञान अन्त में काव्य की ही शरण मे आयेगा।

——

नूतन और पुरातन काव्य

प्राचीनता की परिणति नूतनता में है और नूतनता का अंकुर प्राचीनता में। जैसे वार्द्धक्य के बाद यौवन आता है और यौवन के बाद फिर वार्द्धक्य, वैसे ही आज समाज और साहित्य का जो युग प्राचीन है, उसका स्थान कल नवीनता ले लेती है, और वह नवीनता भी परसों प्राचीन हो जाती है। प्राचीनता और नवीनता का यह क्रम व्यर्थ नहीं है, बल्कि वह साहित्य और समाज के भिन्न-भिन्न समयों की कड़ियाँ परस्पर जोड़ता जाता है।

काव्य का अमरत्व—जिस प्रकार शरीर का बाह्य परिवर्त्तन होने पर भी आत्मा अमर रहती है, उसी प्रकार साहित्य के बाह्य रूप—भाषा, छन्द, शैली—के परिवर्त्तित होते रहने पर भी आत्मानुभूति चिरस्थायी रहती है। इस आत्मानुभूति का प्रवाह पुरातन होने पर भी नित्यनवीन है। उसका सनातन स्रोत नई-नई इन्द्रियों और नये-नये हृदयों से होकर चिरनूतन बना रहता है।

भाव और सूक्ति—कविता केवल कला नहीं है। जहाँ तक उसका सम्बन्ध भाषा और शैली की साज-सज्जा से है, वहाँ तक तो वह कलात्मक है, परन्तु कविता जिस वस्तु से

प्राणान्वित होकर कविता कहलाती है, वह है रस-संयुक्त भाव। भाव का सम्बन्ध मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय से है। जब हम भाषा और शैली की तरह भाव को भी मस्तिष्क से जोड़ना चाहते हैं, तब भाव—भाव न रहकर—सूक्ति बन जाता है। ऐसी दशा में कविता कला की वस्तु तो हो जाती है, परन्तु उसमें चमत्कार ही प्रधान हो जाता है। ऐसी कविताएँ हमारे सुख-दु:ख की साँसों में समाकर प्राणमय नहीं हो जातीं, बल्कि वे हमारी जिह्वा पर बैठकर कभी हमारा अनुरञ्जन करती हैं और कभी दूर देश से उपदेश देती हैं।

हृदय की कविता—मस्तिष्क एवं सूक्ति-प्रधान कविताओं का क्रीड़ा-क्षेत्र प्राय: वस्तु-जगत् रहा है। किन्तु हृदय-प्रधान कविताएँ तो कोयल की तरह अन्तर्जगत् के उद्यान में ही कूजती हैं—

"हृदय के प्रणय-कुञ्ज में लीन
मूक-कोकिल का मादक गान
बहा जब तन-मन-बन्धन-हीन
मधुरता से अपनी अनजान;
खिल उठी रोओं-सी तत्काल
पल्लवों की यह पुलकित डाल।"

वस्तु-जगत् का कवि वस्तुओं को केवल उनके बाह्य रूप-रंग में ही अपनाता है, उनमें कवि-हृदय की चेतना मिलाकर उन्हें अपनी ही अन्तरात्मा-जैसा सचेतन नहीं बना लेता।

अन्तर्जगत् की कविताएँ ठीक इसकी दूसरी दिशा में अपने सौन्दर्य्य का रहस्योद्‌घाटन करती है। हृदय का भावुक कवि वस्तु-जगत् के जड़ और चेतन दोनों ही को अपनी सजीवता से सुस्पन्दित कर उन्हें नवीन रूप, नवीन शोभा, नवीन प्राण दे देता है। नवयुग का आरम्भ अन्तर्जगत् की कविताओं से हुआ है। प्रत्येक साहित्य में ऐसी ही कविताएँ चिरस्थायी होती हैं, क्योंकि हृदय को हृदय के भावों की ही आवश्यकता है, उन्हीं से आत्मा को मधुरता मिलती है। मस्तिष्क-प्रधान कविताएँ तो विज्ञान की तरह ही लौकिक आवश्यकता की क्षणिक पूर्त्ति मात्र करती हैं।

विज्ञान की तरह ही जब-जब कविता भी भौतिक भार से दब गई है, तब-तब साहित्य में अन्तर्जगत् के कवियों ने अपने हृदय का स्वर ऊँचा किया है एवं कविता को नवजीवन दिया है। आज वही स्वर मानव और प्रकृति-प्रेम के रस में सनकर हमारे नवीन कण्ठों में गूँज रहा है। यही स्वर, यही भाव, कवियों के हृदय का चिरपरिचित सखा है, वह भिन्न भिन्न युगों में बिछुड़े हुए साथी की तरह फिर-फिर अपने कवि से आ मिलता है। इसी लिए मानो हृदय के ही उस चिरन्तन स्वर, चिरन्तन भाव को सम्बोधित कर कवि ने कहा है—

"तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने;

मेरे मानस के स्पन्दन,
प्राणों के चिर-पहिचाने !
मै नव-नव उर का मधु पी
नित नव ध्वनियों मे गाऊँ,
प्राणों के पंख डुबाकर
जीवन-मधु में घुल जाऊँ ।"

—गुञ्जन

हाँ, हृदय का वह स्वर, वह भाव, चिर पुरातन होकर भी नित्य-नूतन है, प्राचीन होकर भी नवीन है। कवि पन्त के ही शब्दों में—

"तुम सहज, सत्य, सुन्दर हो
चिर आदि और चिर अभिनव ।"

कविता हमारी भावनाओं का सुघरतम रूप है। संसार के कोलाहल से दूर, हृदय के एकान्त में, जब हम अपने 'आप' में निमग्न होने लगते हैं, उस समय हम सरस हो उठते हैं और तब कुछ ऐसे भावमय उद्‌गार हमारे अतल से स्वयमेव निकल पड़ते है जिनकी स्वर-लहरी में संसार का सम्पूर्ण वैषम्य बह जाता है एवं हमारे तन, मन, प्राण एक असम भार से मुक्ति पाकर हलके हो जाते है; हममें नई स्फूर्ति, नई ज्योति आ जाती है। 'पल्लव' में कविवर पन्तजी ने ठीक लिखा है—"कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप,

हमारे अन्ततम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है। अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य्य, रात्रि-दिवस की आँखमिचौनी, षड्ऋतु-परिवर्तन, सूर्य-शशि का जागरण-शयन, ग्रह-उपग्रहों का अश्रान्त नर्त्तन,—सृजन, स्थिति, संहार,—सब एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड संगीत ही में होता है।"

जिस प्रकार भीतर की दबी हुई साँस बाहर निकल पड़ना चाहती है, उसी प्रकार हृदय की असीम भावनाएँ अपने आवेग से उन्मुक्त गगन में गूँज उठना चाहती हैं, इसी में हमारे जीवन का स्वास्थ्य है। दूसरे शब्दों में, कविता हमारे हृदय की साँस है, हमारा आन्तरिक जीवन अहर्निश उसी में बहता रहता है।

सहृदयता और सद्भाव की आवश्यकता—हृदय के जो गीत अपने आप प्रस्तुत होते हैं वे जीवन अथवा हृदय की ही भाँति अधिकाधिक गूढ़ और वैसे ही दुर्बोध होते हैं। उन्हें वे ही लोग हृदयंगम कर सकते हैं जो अपनी मनःस्थिति उन्हीं के अनुरूप बना लेते हैं। यह नियम नहीं कि वे गीत सबकी समझ में आ ही जायँ। महात्मा गाँधी ने अपनी आत्म-कथा में प्रसंगवश एक स्थान पर लिखा है—"हममें जो सद्भाव सोये हुए हैं उन्हें जागृत करने की शक्ति जिसमें है, वही कवि है।

सब कवियों का असर सबों पर एक-सा नहीं होता, क्योंकि सबमें सारी सद्भावनाएँ समान परिमाण में नहीं होतीं।"

जो लोग आँखों से पढ़कर, कानों से सुनकर, मस्तिष्क से सोच-सोचकर, हृदय और जीवन की उन गूढ़ भावनाओं को समझने का कठिन प्रयत्न करते हैं, उन्हें वे अवश्य ही छाया की तरह धुँधली और रहस्य की तरह दुर्भेद्य जान पड़ती हैं। यदि कवि की तरह सर्वसाधारण भी भीतरी आँखों और भीतरी कानों से देखें-सुनें तो कविता को कविता-रूप में सहज ही हृदयङ्गम कर लें।

प्राणियों का हृदय और जीवन स्वयं चिरगूढ़ पहेली है; इसी कारण हम दूसरों को ही नहीं, बल्कि अपने आपको भी चिरकाल तक ठीक-ठीक समझ नहीं पाते। सुख-दुःखमय गीतों की भाँति ही यदि हम दूसरों को समझ पाते तो हम तार-तार से जुड़कर, विश्व-बन्धुत्व के सूत्र में आबद्ध होकर, इसी संसार को सुख-शान्ति का स्वर्ग बना देते। तब, हमारे सामने जीवन के इतने घात-प्रतिघातों का अभिनय नहीं होता, जिनका चित्रण उपन्यासों और कहानियों में पाया जाता है। इसी वैषम्य के कारण ही तो कवि कहता है—

"कौन जान सका किसी के हृदय को ?
सच नहीं होता सदा अनुमान है;
कौन भेद सका अगम आकाश को ?
कौन समझ सका उदधि का गान है ?"

किन्तु जब हम एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करते हैं तब सहृदय एवं उदार बन जाते हैं, दूसरे शब्दों में, हम कविता के उपासक हो जाते हैं।

हम अन्तस्तल की गहराई में जितनी ही गम्भीरता से निमग्न होंगे, संसार की सुख-शान्ति एवं आश्वासन के लिए उतनी ही सफल रचनाएँ दे सकेंगे। केवल बाहरी दृष्टियों से देखकर, शब्दों के निर्जीव चौखटे में मढ़कर, जो कुछ संसार को दिया जाता है, उससे मनोविनोद तो अवश्य हो सकता है, किन्तु हृदय की पहेली नहीं खुलती, आत्मा आनन्द से गद्‌गद एवं उन्मद नहीं हो उठती। इसी लिए कवि कहता है—

"प्रेयसि कविते! हे निरुपमिते!!
अधरामृत से इन निर्जीवित
शब्दों में जीवन लाओ,
आँखों ने जो देखा, कर को—
उसे खींचना सिखलाओ।"

बाह्य संसार को देखकर अन्तस्तूलिका से उस पर कवित्व का निर्मल रङ्ग चढ़ानेवाला ही प्रकृत कवि है। बाह्य संसार बदलता चला जाता है, किन्तु शाश्वत अन्तरात्मा ज्यों की त्यों रहती है—उसके गीत भी उसी की तरह सुरक्षित रहते हैं। देश-काल की नश्वर लघु परिधि उसके महत्त्व को सीमित नहीं कर सकती।

वे अमर गीत किसी ख़ास युग की उपज नहीं, वे भिन्न-भिन्न छन्दों और वर्णों में प्रत्येक युग में उत्पन्न होते हैं, प्रत्येक युग में अग्रसर होते हैं। वे प्रत्येक युग की कृति हैं, इसी लिए सनातन हैं। जिस प्रकार स्वाति-नक्षत्र के बूँद सीप की आत्मा को खोल देते हैं, उसी प्रकार वे गान, विशेष मुहूर्त्तों में, अपनी वाणी-द्वारा अन्तरात्मा को बहिर्मुख कर देते हैं।

प्रेम का स्वप्न—ब्रजभाषा के शृङ्गारिक युग मे, यद्यपि 'पल्लव' के शब्दों मे,—"बावड़ियों में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत-शत रस-धारों मे फूट रहा है,........कुञ्जों से उद्दाम-यौवन की दुर्गन्ध आ रही है, जिनके सघन पत्रों के झरोखों से 'दीरघ दृग' प्रीतम की बाट में दौड़ लगा रहे हैं।" तो भी, उस युग में प्रेम का कहीं-कहीं ऐसा धवल प्रकाश भी दीप्त हो उठा है जो सघन पत्र-जाल से छनकर आती हुई स्निग्ध चन्द्रिका की तरह मधुर निर्मल है। उस पुरातन युग के सौन्दर्य्य के पलकों में प्रेम का एक स्वप्न—

"छहरि छहरि झीनी बूँदनि परति मानों
घहरि घहरि घटा छाई है गगन मैं।
आइ कह्यौ स्याम मोसो चलौ आज झूलिबे कौ
फूली ना समाई ऐसी भई हौं मगन मैं॥
चाहति उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद
सोइ गये भाग मेरे जागि वा जगन मैं।

आँखि खोल देखों तो न घन है न घनस्याम
वेई छाई बूँदें मेरे आँसू ह्वै दृगन मैं ।।"

—देव

विरह के अश्रु-बिन्दुओं ने अनजान में ही पलकों में, किस कुशलता से पावस को प्रत्यक्ष कर दिया है। इन पंक्तियों में मनोविज्ञान का कितना सुन्दर निदर्शन है—सोने के पहले हमारे मन में जैसी भावनाएँ रहती हैं, वैसा ही संसार स्वप्न में आँखों के सामने आता है। यह केवल कवि की सृष्टि नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष विश्व का प्रत्यक्ष चित्र है। यह कविता में कहानी है, कहानी में कविता है। अश्रु-बिन्दुओं द्वारा बाह्य और अन्त: प्रकृति की एकात्मता, किस ख़ूबी से, किस स्वाभाविकता से, स्नेह-सूत्र में आबद्ध कर दिखला दी गई है। गार्हस्थ्य जीवन के भीतर व्रज की गोपियों ने अपनी-अपनी आत्मा में इसी भाँति परमात्मा को स्थापित कर रक्खा था, प्रकाशमय जाग्रत् विश्व में भी उनके प्रत्येक क्रिया-कलाप के साथ-साथ यही एक स्वप्न स्मृति-चित्र बनकर प्रत्यक्ष चलता रहता था। एक ही स्वप्न अनेक मोहक दृश्य रच-रचकर उनके दृगों के सम्मुख आता था, और उन्हें बार-बार यही पछतावा दे जाता था—"सोइ गये भाग मेरे जागि वा जगन मैं।"

रहस्यमय चेतन—यह प्रेम का स्वप्न, यह सौन्दर्य्य का समारोह, लौकिक पलकों में अलौकिक पुरुष का मनोहर नाट्य

है, जिसे हम जाग्रत जगत में परितृप्ति-पूर्वक ग्रहण नहीं कर पाते, केवल अदृश्य मानसिक जगत् में ही उसके हृदय-रस से छक जाते हैं। जाग्रत जगत् में तो—

देखौं जागति वैसियै साँकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवत जात भजि को जानै किहिं बाट॥

—बिहारी

रवीन्द्रनाथ ने भी एक दिन बोलपुर के राजमार्ग पर किसी बाउल के स्वर मे उस क्रीड़ा-कुशल अदृश्य चेतन को पकड़ पाने की विकलता इस भाँति सुनी थी—

"खाँचार माझे आचिन् पाखी केमने आसे जाय;
धरते पारले मनोबेड़ि दितेम पाखीर पाय॥"

(अर्थात् पिंजड़े में अपरिचित पक्षी कैसे आता-जाता है, पकड़ सकता तो उसके पैरों में मन की बेड़ी दे देता।)

किन्तु उसे पकड़ नहीं पाते, मोह के बन्धन से बाँध नहीं पाते; फिर भी लौकिक सृष्टि मे उसकी सगुण मूर्त्ति की अवतारणा कर हृदय के कवित्व ने उसे सुलभ कर दिया, वह लोक-लीला में मानव-मय हो गया।

उस अदृश्य चेतन और इस दृश्य जगत् की शोभा-सुषमा से समाविष्ट तथा हास-अश्रु से चिरजीवित हो हिन्दी-कविता वर्तमान युग तक पहुँची है।

मीरा का तन्मय संगीत

मन रे परसि हरि के चरण।
सुभग सीतल कमल-कोमल,
त्रिविध ज्वाला-हरण॥
—मीरा

निर्गुण और सगुण—हिन्दुओ के जातीय संकट के काल में भी हमारे भक्त कवियों ने अपनी जिस देवोपम वाणी को उद्‌गीकर नवजीवन दिया, वह दो प्रकार की थी—एक तो सगुणोपासना-पूर्ण (अर्थात् उन्होंने ईश्वर या ब्रह्म को एक मूर्त्त रूप देकर उसके ध्यान गान का प्रचार किया); और दूसरी थी निर्गुण उपासना, जिसमे ईश्वर को अमूर्त्त मानकर उसके सर्व-घट-घट-व्यापी अस्तित्व का अनुगमन किया गया। मुसलमानों का जो समूह सूफ़ी सम्प्रदाय की भाँति सहृदय न होकर अनुदार था और मूर्तियों तथा मन्दिरों को खण्डित कर केवल मसजिदों में ही ख़ुदा को देखता था, उसकी उस उद्धत प्रकृति में अखिल मानव-जाति के प्रति एक स्नेहपूर्ण कोमल बन्धुत्व का संचार करने के लिए, निर्गुण उपासना का पन्थ अधिक सफल हुआ, जिसके प्रमुख थे कबीरदास।

आर्य्य-जाति का कला प्रेम—किन्तु आर्य्य-जाति सदैव से मूर्तिपूजक रही है, अतएव उसे तो सगुणोपासना में ही अधिक आकर्षण मिला। इस सगुणोपासना का एक कारण आर्य्य-जाति का कला-प्रेम है। अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसने कला को प्रमुखता दी है, अतएव उसकी धार्मिक संस्कृति भी कला से ही विमण्डित है। अपनी सगुणोपासना में उसने ईश्वर को मूर्त्त कर अपनी मूर्तिकला अथवा रूपक-मयी कविता का दिव्य परिचय दिया है। उस जातीय संकट के काल में, कला ने अपने काव्यरूप में आर्यसंस्कृति का संरक्षण किया था।

कला की भावना से प्रेरित होने के कारण ही हमारी सगुणोपासना भावप्रधान है। इसके प्रतिकूल, निर्गुण उपासना में निराकारता होने के कारण वह कला के रूप-रंग से परे है, अतएव वह भाव-प्रधान न होकर सूक्ष्मज्ञानमय है। इस निर्गुण उपासना के प्रमुख कवि कबीर की वाणी में जहाँ कहीं भाव है भी, वह उनकी उस बेबसी के कारण है, जब कि साधारण जनता को प्रयत्न करके भी वे अपने सूक्ष्म ज्ञान का बोध नहीं करा पाते थे। अतएव, यत्र-तत्र उन्हें भी अपनी वाणी में आत्मा और परमात्मा का रूपक बाँधकर एक दूसरे ही प्रकार से सगुणोपासना करनी पड़ी है और वह सगुणोपासना सूफी पद्धति की है।

हमारे यहाँ सगुणोपासकों की दो शाखाएँ है—एक रामभक्ति शाखा, दूसरी कृष्णभक्ति शाखा। रामभक्ति शाखा के

कवियों में तुलसीदास अग्रतम हैं। कृष्णभक्ति शाखा के कवियों में सूर, मीरा तथा अष्टछाप के अन्य कविगण प्रसिद्ध हैं।

वह पगली—हमारे साहित्य में अष्टछाप के उन सगुणोपासक कवियों की काव्यकोटि से परे, उस तपस्विनी मीरा का कुछ और ही स्वर्गीय स्थान है। उसकी उपासना में जो तन्मयता है, वह कृष्ण-भक्ति शाखा के किसी भी कवि में नहीं। हाँ, सूरदास में मीरा की अपेक्षा कवित्व अधिक है, उसमें अलङ्कारों ने बड़ा ही सुन्दर स्वरूप पाया है। परन्तु सूरदास अपने काव्य-चमत्कार में कहीं-कहीं इतना भूल गये हैं कि वे भाव में ही तन्मय हो गये हैं, भाव उनमें तन्मय नहीं हो गया है। भाव तो तन्मय हो गया है मीरा में। वह पगली अपने प्रेम-विह्वल हाथों में करताल लेकर, भाव-निरत चरणों से ताल दे-देकर, नृत्य करती हुई, गाती है—

बसो मेरे नैनन में नँदलाल,
मोहनी मूरत साँवली सूरत,
नैना बने बिसाल;
बसो मेरे नैनन में नँदलाल!

अथवा—

मैं गिरधर रँगराती सैय्याँ, मैं गिरधर रँगराती।
पँचरँग चूनरि पहन सखी मैं झुरमुट खेलन जाती;

ओहि झुरमुट माँ मिल्यो साँवरो, खोल मिली तन गाती ।।
जिनका पिया परदेस बसत है लिख-लिख भेजे पाती,
मेरा पिया मेरे हीय बसत है, ना कहुँ आती-जाती ।
मैं गिरधर रँगराती सैय्याँ, मैं गिरधर रँगराती ।।

वह अपने संगीत की तन्मयता से, आकाश-पाताल दोनों को एक साथ ही झनकारपूर्ण कर देती है—वह मानो ऊपर-नीचे सर्वत्र, स्वरों में ही अपने साँवलिया को साकार कर देना चाहती है। जान पड़ता है, मीरा के रूप मे स्वयं उपासना ही इस पृथ्वी पर मूर्त्तिमती हो गई थी।

साधना की तल्लीनता—वह राजपूताने की मरुस्थली में स्रोतस्विनी के समान प्रकट हुई थी, जिसने एक ओर यदि उस मरुप्रदेश को अपनी प्रेम-धारा से सजल-सरस कर दिया था तो दूसरी ओर अखिल देश के नारी-हृदय का भगवान् के चरणों में अनन्य प्रतिनिधित्व किया था। यही उसका अपराध था, जिसके लिए वह राज्य से निर्वासित हो गई, मानों वह कोई विद्रोहिनी हो! किन्तु उसके हृदय से उसके भगवान् को कौन निर्वासित कर सकता था?—तभी तो उसने कहा था—

मैं गोविन्द गुन गाना जी
राजा रूठै नगरी राखै, हरि रूठ्याँ कहँ जाना जी।
राणा भेजा जहर पियाला, इमिरत कर पी जाना जी;

डिबिया में भेज्या जु भुजंगम, सालिगराम करि जाना जी;
मीरा तो अब प्रेम-दिवानी, साँवलिया बर पाना जी।
हरि रूठ्याँ कहँ जाना जी॥

यह है साधना की तल्लीनता, जिसने विष को अमृत तथा भुजंगम को भगवान् बना दिया! यह है मीरा का अद्भुत मनोयोग, जिसके कारण विष, विष नहीं रहा; सर्प, सर्प नहीं रहा। मनोयोग के सम्मुख भला कौन-सा असंभव, संभव नहीं?

मीरा के पदों में उसकी आत्मा की भाषा है, जो आँसुओं से गीली है। उसने आँसुओं से सींच-सींचकर ही अपने प्रेम की बेलि बोई है। वह भोली-भाली उपासिका काव्य-कोविदा नहीं थी, बल्कि उद्गार-रूप में अपने गिरिधर गोपाल को नैवेद्य अर्पित करने के लिए अपने भावों को जितना सुन्दर, सुमधुर और अलंकृत कर सकती थी, उतना उसने किया है।

उपासना-पद्धति—भक्ति-काल के सगुणोपासक कवियों की उपासना-पद्धति विभिन्न प्रकार की रही है—तुलसी ने राम के प्रति सेव्य या सेवक-भाव से अपने हृदय को अर्पित किया है; सूर ने कृष्ण के प्रति सख्य या सखा-भाव से तथा मीरा ने प्रियतम या पति-भाव से अपने आपको न्यौछावर किया है। इन सन्त कवियों के पदों में एक खास बात यह पाई जाती है कि उन्होंने एक ही तरह के भावों की बार-बार पुनरुक्ति की है, जिन्हें केवल काव्य की दृष्टि से देखने पर तबीयत

ऊब-सी जाती है। किन्तु हमें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि वे उपासक पहिले थे, कवि बाद को। अपनी उपासना की धुन में वे अपनी अर्चना के एक-एक शब्द में अपने हृदय को बार-बार रस-मग्न कर देना चाहते थे, इसी लिए बार-बार एक-एक भाव को दुहराकर भी उनके हृदय और श्रवण को तृप्ति नहीं होती थी।

सूर की एकनिष्ठ उपासना के कारण लोग उन्हें कृष्ण का 'उद्धव' कहा करते हैं। और इसी भाँति यदि हम कहना चाहें तो यह भी कह सकते है कि मीरा उन गोपियों में से एक थी जो उद्धव के लाख समझाने पर भी सगुण ब्रह्म के लिए अपनी टेक बनाये हुए थी। एक विरहिणी गोपिका प्रियतम कृष्ण के प्रति जितने प्रकार से अपने उद्‌गार प्रकट कर सकती थी, उन सभी प्रकारो से मीरा ने गिरिधर गोपाल के प्रति अपने छोटे-छोटे पदों में अपने हृदय के आकुल भाव उँडेल दिये है। इसी कारण, उसकी कविताएँ भक्तिरस में डूबी हुई होने पर भी, शृंगारिक-सी जान पड़ती है। परन्तु यह तो हमारी ही दृष्टि का भेद है कि हम उसमें केवल शृंगारिकता देखें। भक्तो की उस शृंगारिकता में इतने सूक्ष्म आध्यात्मिक रूपक है कि साधारण जनों की दृष्टि वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाती। ऐसे स्थलों पर वह कवियों और जिज्ञासुओं के लिए ही विशेष मनन की वस्तु है।

निर्गुण की ओर—मीरा ने अपने विरह-विदग्ध उद्गारों में ही यत्र-तत्र उस परम तत्त्व का भी निर्देश किया है, जो सगुण से निर्गुण की ओर आत्मा को प्रेरित करता है। वह कहती है—

सूली ऊपर सेज हमारी किस विध सोना होइ ?
गगन-मण्डल पै सेज पिया की किस विध मिलना होइ ?

अभिप्राय यह है कि जिससे मिलने के लिए उसके जी में इतनी विकलता है, उससे इस लोक में नहीं, बल्कि गगन-मण्डल की भाँति एक ऐसे असीम मुक्त देश में ही भेंट हो सकती है, जहाँ पञ्चेन्द्रियों की पहुँच नहीं। उस प्रियतम से तो मृत्यु की सेज पर ही महा-मिलन हो सकता है, जहाँ चेतन आत्मा स्वतः चेतन परमात्मा में मिल जाती है। मीरा जानती है कि उस शरीर-रहित निराकार से निर्विकार मिलन, शरीर-रहित प्राण से ही हो सकता है, सप्राण शरीर से नहीं। सप्राण शरीर द्वारा तो हम केवल व्यक्तियों से ही मिल सकते हैं। और, प्राण के साथ,जब तक शरीर है, तब तक उसमें पञ्चेन्द्रियों की दुर्बलताएँ भी निश्चित ही हैं। यह शरीर-युक्त प्राण सांसारिक शोभा-सुषमा मे ही लुब्ध न हो जाय, इसी लिए भारतीय सन्तों का सगुणोपासना द्वारा राम और कृष्ण की परम सुन्दर झाँकियों की अवतारणा करनी पड़ी। दूसरे शब्दों में, उन्हे एक साकार कल्पना का कवि बनना पड़ा।

'अपनी गैल बता जा'—जिस प्रकार आत्मा की गति परमात्मा में है, उसी प्रकार सगुण की गति निर्गुण में है। उसी निर्गुण में लीन होने के लिए ही मीरा ने अपने मन के सगुण से कहा है—

जोगी मत जा, मत जा, पाँइ परूँ, मैं चेरी तेरी हौं
प्रेम-भगति को पैंडो ही न्यारो हमकूँ गैल बता जा
अगर-चन्दन की चिता बनाऊँ अपने हाथ जला जा।
जल-बल भई भस्म की ढेरी अपने अंग लगा जा
'मीरा' कहै प्रभु गिरधर नागर, जोति में जोति मिला जा
जोगी मत जा, मत जा॥

यह कितना सुन्दर कवित्वपूर्ण उद्‌गार है! इन पंक्तियों में मीरा की आत्मा का निचोड़ है, उसकी साधना का सम्पूर्ण दृष्टिकोण है। जब वह कहती है—

प्रेम-भगति को पैंडो ही न्यारो हमकूँ गैल बता जा

तब, इसके साथ ही अगुरु-चन्दन की चिता में वह उस 'गैल' को देखती है। इस प्रकार वह निर्देश करती है कि नश्वर शरीर के लोप हो जाने पर ही आत्मा को अपने अविनश्वर निर्गुण से मिलने का अवसर मिलता है। अन्त में उसी के शब्द—

'मीरा' कहै प्रभु गिरधर नागर, जोति में जोति मिला जा

सचमुच, चिता की लपटों के साथ ही आत्मा की सूक्ष्म ज्योति अदृश्य रूप से उस निर्गुण की परम ज्योति में मिल ही जाती है।

इस एक पद में मीरा की, सगुण और निर्गुण, दोनों ही उपासनाएँ साथ-साथ हैं। उसका सगुण ही उसे अपने निर्गुण रूप में लीन करने के लिए सहायक है।

प्राचीन हिन्दी-कविता

भक्तों की भाव-दृष्टि—सन्तो की दृष्टि में कविता वह अन्त-ज्योति है, जिसके आलोक में सृष्टि का आध्यात्मिक रहस्य उद्भासित होता है। हिन्दी मे महामना गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने बाह्य और अन्तः, दोनों ही चक्षुओ से संसार को देखा है; किन्तु उनके बाह्य चक्षु अन्तश्चक्षुओं को खोलने के लिए ही कला के अनुराग से अनुरञ्जित हुए हैं। रामचरितमानस में जहाँ वे निगुण-निर्विकार, निराकार भगवान् की अप्रत्यक्ष छवि इन शब्दों मे प्रत्यक्ष करते हैं—

नील-सरोरुह, नीलमनि, नील नीरधर श्याम

वहाँ दूसरी पंक्ति में यह भी कह देते हैं—

लाजहिं तनु-शोभा निरखि, कोटि कोटि शत काम ॥

इस मङ्गल शोभावलोकन में कल्पना द्वारा एक ऐसी अलौकिक छवि का सृजन है, जिसे देखने के लिए हमें अन्तश्चक्षुओं की नितान्त आवश्यकता है, क्योंकि केवल बाह्य चक्षुओं से वह इस गोचर विश्व मे बोधगम्य नहीं। अन्तश्चक्षुओ से देखने पर

जब उस रूप का यथार्थ ज्ञान होता है, तब लौकिक दृष्टिकोण में बहुत अन्तर पड़ जाता है।

गोस्वामी जी ने भगवान् के लोक-रूप को इसलिए प्रदर्शित किया कि उसके अलौकिक सौन्दर्य्य के चिन्तन से, भक्ति के जाग्रत होने पर, हम इस चराचर में उसकी व्यापकता देख लें, और समग्र सृष्टि के साथ अपना सामञ्जस्य कर लें। गोस्वामी जी ने लोक के समस्त पाप-ताप, रोग-भोग, हर्ष-विषाद को लौकिक माया की आँखों से ही देखा है। पश्चात्, कवित्व की अभि-व्यञ्जना द्वारा, उसी माया के कर्दम में उनके सत्य का कमल फूट पड़ा है।

अयोध्या का राजप्रासाद, जनकपुर का सुरभित उद्यान, मानवी माया के केन्द्र हैं; तो लङ्का की स्वर्णपुरी राक्षसी माया का केन्द्र है। तुलसीदास एक आत्मजागरूक दर्शक की भाँति इन्हें देखते हैं। इन माया-केन्द्रों में लौकिक मनुष्यत्व, लौकिक दानवत्व और अलौकिक विभुत्व, इन तीनों का चरम-रूप दिखाया गया है। तुलसीदास के राम का अलौकिक स्वरूप राजप्रासाद के लौकिक सुखभोग से पृथक् होने पर, साधना और त्याग से तपोवन में प्रस्फुटित होता है।

गोस्वामी जी के ही समान भक्त सूरदास ने भी ब्रह्म के उसी अनुपम अलौकिक रूप को बालकृष्ण में देखा। उनके बालकृष्ण बाह्य दृष्टि से संसार के प्राणी हैं, किन्तु सूर के अन्तश्चक्षुओं से

देखने पर उनका भी लोकातीत स्वरूप प्रकट हो जाता है। वह कैसा है ?—

> अविगत गति कछु कहत न आवै;
> ज्यों गूँगो मीठो फल को रस अन्तरगत ही भावै।
> मन-बानी को अगम, अगोचर, सो जानै जो पावै;
> रूप-रेख, गुन, जाति जुगुति बिनु, निरवलम्ब मन धावै।
> सब बिधि अगम बिचारहिं, ताते सूर सगुन पद गावै॥

इसी सगुणोपासना के कारण व्रजबालाएँ उद्धव के लाख समझाने पर भी, नटनागर श्याम को शून्य-मय (निर्गुण) नहीं देख पाईं। सूर मिथ्या माया का मिथ्यापन दिखलाने के लिए ही सत्य के साकार-रूप की सृष्टि करते हैं। वे ब्रह्म और माया की रासलीला देखने में तन्मय हैं, इसी में उनका अलौकिक आनन्द है। उनके नटनागर कृष्ण गोपियों के सङ्ग जलक्रीड़ा करते हैं, वन-निकुंजों में केलि करते हैं, माखन चुरा कर गोपियों से प्रीति जोड़ते हैं वंशी की मधुर-ध्वनि से कालिन्दी की कलित लहरों की तरह ही गोपियों के हृदय को भी आन्दोलित करते हैं; उनमें किसी भी प्रणय-लीला का अभाव नहीं। किन्तु सूर इस माया में छिपे हुए सत्य को भूले नहीं हैं; वह तो अन्तश्चक्षुओं में विद्यमान है। इसी लिए तो उस क्रीड़ावलोकन में सूर का कौतूहल भी अधिक बढ़ गया है। उनका सत्य वहाँ है, जहाँ उद्धव और गोपिकाओं में संवाद हो रहा है। सूर ने राग-

विराग के दो दृश्य हमारी आँखों के सामने उपस्थित कर दिये है। आलङ्कारिक दृष्टि से गोपियाँ हमारी ही लोकेन्द्रियों की रूपक-मात्र है। लौकिक इन्द्रियाँ जिस प्रकार गोचर को ही ग्रहण कर पाती हैं अगोचर को नहीं, उसी प्रकार गोपियाँ सगुण कृष्ण को ही आराध सकीं, निर्गुण ब्रह्म को नहीं। शरीर द्वारा हम जिस प्रकार चेतना का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार सगुण द्वारा ही गोपियों ने निर्गुण चेतन को अपनाया। जिस प्रकार निःशरीर हो जाने पर भी मनुष्य की एक आत्म-सत्ता हमारे हृदय में चिराङ्कित हो जाती है, और वह अगोचर होकर भी हमारे भीतर चिरगोचर रहता है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म का भी वैष्णव भक्तों के हृदय में साकार स्थान है।

सूर और तुलसी की भाँति ही कबीर भी सत्य के उपासक है। तुलसी और सूर लौकिक दृष्टि से विश्व में रहकर माया-द्वारा ही माया से परे सत्य को देखते है, किन्तु कबीर के यहाँ कोई लौकिक रीति-नीति नहीं, वे उसे फूटी नज़रों भी नहीं देखना चाहते। उनकी नगरी सर्वथा सत्य की नगरी है— "लेना है सो लेइ ले उठी जात है पैठ!" न वहाँ अयोध्या है, न जनकपुर; न गोकुल है, न मथुरा। वहाँ तो केवल माया की सुनहली लङ्का हनुमान्-द्वारा जल रही है, जिसके ध्वंसार्थ प्रवेश करते समय उस सूक्ष्म आत्मज्ञान के हनुमान् का मायाविनी सुरसा प्रतिरोध किया था।

कबीर संसार के समस्त मायावी उपकरणों को अन्तर्ज्योति के आलोक में लिये जा रहे हैं। वे दिखलाना चाहते हैं कि यहाँ जो कुछ है, उसकी तुलना इंद्रिय-जगत् में कौन कर सकता है? तुलसी और सूर का माया-जगत् द्वारा, जिस अलक्ष्य (निर्गुण) की ओर सांकेतिक लक्ष्य है, वही कबीर को भी अभीष्ट है; किन्तु लीला-युक्त होकर नहीं, लीला-रहित होकर। "माया महा ठगिनि मैं जानी"—इन शब्दों में वे आध्यात्मिक विद्रोह करते हैं। वे एक आध्यात्मिक क्रान्तिकारी हैं। तुलसी और सूर अपनी साधना द्वारा लोक को पथ दिखलाते हैं तो कबीर केवल उस पथ पर आनेवालों को दृढ़निश्चयी एवं सजग करते हैं। "सूर ने कृष्ण के उज्ज्वल केन्द्र को ग्रहण किया, तुलसी ने रामचन्द्र के केन्द्र को और कबीर ने निर्गुण आत्मा को—बिना केन्द्र के केन्द्र को।"

कबीर का विश्वास है कि मनुष्य की अन्तरात्मा अपने मूलस्थान (चेतन-लोक) को छोड़कर निरंकुश नायिका की भाँति मनमानी बाहर (इंद्रिय जगत् में) भटक रही है। इसी लिए कबीर पग-पग पर उसे चेतावनी देते हैं—

सजि ले शृङ्गार चतुर अलबेली
साजन के घर जाना होगा।
माटी ओढ़ना, माटी बिछौना
माटी का सिरहाना होगा॥

कबीर के पहले अमीर ख़ुसरो ने भी यत्र-तत्र, इसी तरह के एकाध भावों का प्रचार किया है—

बहुत रही बाबुल घर दुलहन चल तोरे पी ने बुलाई।
बहुत खेल खेली सखियन से अन्त करी लरिकाई॥
न्हाय-धोय के बस्तर पहिरे सभही सिंगार बनाई।
बिदा करन को कुटुम्ब सब आये सगरे लोग लुगाई॥
चार कहार मिल डोली उठाये संग पुरोहित औ चलै नाई।
चले ही बनेगी होत कहा है नैनन नीर बहाई॥
अन्त बिदा होय चलिहैं दुलहिन काहू की कछु न बसाई।
मौज खुसी सब देखत रहि गये मात-पिता औ भाई॥

इन सत्य के उपासक कवियों में मीरा, नानक, दादू, पलटू आदि सन्त भी अपनी उज्ज्वल वाणी से चिरयशोज्ज्वल हैं।

भक्त कवियों द्वारा हिन्दी में रहस्यवाद की सृष्टि कहीं निर्गुण, कहीं सगुण, कहीं सूफी ढङ्ग पर हुई। माधुर्य्यभाव को लाक्षणिक रूप से ग्रहण करने के कारण सूफी कवियों में भी यत्र-तत्र वैष्णव कवियों की-सी मधुरता है। निर्गुण कवियों का लक्ष्य केवल ज्ञानोद्घाटन होने के कारण उनमें कवित्व की सरसता पर्य्याप्त नहीं। सूफी और सगुणोपासक कवियों में भावोद्भावना के कारण कवित्व की भी यथेष्टता है। हाँ सूफी कवियों की सूफि-यानी रङ्गत में कवित्व होते हुए भी कुछ सूखापन जान पड़ता है, इसका कारण कदाचित् उनकी भौगोलिक संस्कृति हो। उनके

मूर्त्ति-प्रेम-रहित सूफियाने अनुराग-भाव में मेंहदी की शौकिय रङ्गत है, जिसमें मादकता है, रसार्द्रता नहीं।

सगुणोपासक कवियों में राधाकृष्ण को लेकर अधिक भावोद्भावना हुई। जो उपासक नहीं थे, उन्होंने भी राधाकृष्ण के माधुर्य्य-भाव की झाँकी अपने-अपने भावों में उतारी। राधा-कृष्ण के जीवन में प्रणय का एक ऐसा अजस्त्ररस है, जो एक ओर भक्त-हृदयों को आप्यायित करता है, तो दूसरी ओर साधारण गृहस्थों के दाम्पत्य जीवन में भी रस-सञ्चार करता है। परन्तु सीता-राम के जीवन में प्रणय की रस-माधुरी प्रधान नहीं, बल्कि कर्त्तव्य की उपासना ही प्रधान है। उनके जीवन की यज्ञशाला में परिपूर्ण समिधि-सामग्री एवं सौरभ तथा प्रकाश है; किन्तु मधुरता, मादकता तथा अभेद-तन्मयता नहीं है। उस यज्ञशाला तक पहुँचने के लिए व्यक्ति को आत्मसाधना की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही श्रेष्ठ काव्य-साधना की भी। दोनों ही साधना में सफल होकर गोस्वामी जी हमारे साहित्य में उस महायज्ञ के अमर पुरोहित बने। अतएव सूर, मीरा इत्यादि कृष्णोपासक वैष्णव-कवियों ने यदि अपनी पदावलियों में अनुराग को प्रधानता दी तो गोस्वामी जी ने जीवन के समस्त रसों को भक्ति-रस से ही सिञ्चित कर दिया। सूर और मीरा की भक्ति में प्रेम का साम्यभाव प्रबल है, गोस्वामी जी की भक्ति में प्रणत सेवा का।

सूर और तुलसी भक्ति-क्षेत्र में जितने श्रेष्ठ हैं, काव्य-क्षेत्र में भी उतने ही उत्कृष्ट हैं। सगुणोपासक होने के कारण दोनों को अपने काव्यों में सौन्दर्य-सृष्टि करनी पड़ी है। उस रूप-विधान में रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्होंने भी सौन्दर्य को आलंकारिकता से सजाया है। कारण, वे एक चिन्तनशील भक्त ही नहीं, बल्कि, भावनाशील कवि भी थे। काव्य की प्राचीन परिपाटी से वे उतने ही प्रेरित थे, जितने भक्ति की पुरातन पद्धति से।

मथुरा-यात्रा—हाँ, तो सगुणोपासक कवियों में राधा-कृष्ण को लेकर अधिक भावोद्भावना हुई और इसलिए यह ठीक है कि अधिकांश भक्त कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया अथवा गोकुल से मथुरा। किन्तु, जिस प्रकार राधा-कृष्ण हमारे सगुण-काव्य में प्रकृति और ब्रह्म, शरीर और आत्मा के एक लाक्षणिक रूपक मात्र हैं, उसी प्रकार गोकुल और मथुरा अनादि जीवन के दो सांकेतिक ओर-छोर हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ने इसी भाव को अपनी कवित्वपूर्ण शैली में इस प्रकार स्पर्श किया है—

"जीव स्वर्ग से इस संसार-आश्रम पर अवतीर्ण हुआ है। वह यहाँ सुख-दुःख, विपद्-सम्पद् से शिक्षा ग्रहण करता है। जब तक वह छात्रावस्था में रहता है, तब तक उसे आश्रम-कन्या (देह) को सन्तुष्ट रखना पड़ता है। मन भुलाने की अपूर्व विद्या

उसे मालूम है। वह देह की इन्द्रिय-वीणा से ऐसा मधुर संगीत अलापता है कि पृथ्वी पर सौन्दर्य्य की नन्दन-मरीचिका उतर आती है और शब्द, गन्ध, स्पर्श इत्यादि सभी जड़-विशेषताएँ बाद्य-नियम को त्यागकर एक अपूर्व स्वर्गीय नृत्य के आवेश में चञ्चल हो उठती है।

इस दृष्टि से देखने पर प्रत्येक मनुष्य के भीतर एक अनन्त-कालीन प्रेमाभिनय दीख पड़ेगा। जीव अपनी मोह-मूढ़, निर्बुद्धि, निर्भर-परायण संगिनी को किस प्रकार उन्मत्त बना रहा है, वह देह के प्रत्येक परमाणु के भीतर एक ऐसी आकांक्षा उत्पन्न कर देता है कि देह-धर्म्म के द्वारा उस आकांक्षा की परितृप्ति नहीं होती। वह जीव उसकी आँखों में सौन्दर्य्य का एक ऐसा सम्मोहन जादू डाल देता है कि आँखें चौंधिया जाती है, वह और कुछ देख ही नहीं पातीं। इसी लिए वह विद्यापति के शब्दों में कह उठती है—

जनम अवधि हम रूप नेहारलु
नयन न तिरपित भेल।

उसके कान में जो संगीत बजा जाता है, उसकी सीमा नहीं; इसी लिए वह फिर व्याकुल होकर कहती है—

सोइ मधुर बोल श्रवनहि सुनलूँ
श्रुति-पथे परश ना गेल॥

इधर यह प्राणप्रदीप्त संगिनी भी लतिका की भाँति सहस्र शाखा-प्रशाखाओं को फैलाकर प्रेम-तप्त कोमल आलिङ्गन-पाश से जीव को बाँध लेती है और धीरे-धीरे उसे मुग्ध किंवा अभिभूत करती है। अक्लान्त परिश्रम से छाया की भाँति साथ-साथ रहकर विविध उपचारों से उसकी सेवा करती है। प्रवास का जीवन उसे न अखरे, आतिथ्य में किसी प्रकार की त्रुटि न होने पावे, इस लक्ष्य की ओर उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ सजग रहती हैं। इतना करने पर भी, एक दिन जीव अपनी चिरसङ्गिनी, अनन्यासक्ता देहलता को धूलशायिनी करके चला ही जाता है। कह जाता है कि, प्रिये! यद्यपि मैं तुम्हें आत्मवत् प्यार करता हूँ, तथापि तुम्हारे लिए केवल एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर ही मुझे जाना पड़ेगा। देह उसके चरण पकड़कर कहती है—प्रियतम, अन्त में यदि मुझे तृणवत् त्यागकर जाना ही था तो अपने प्रेम के गौरव से मुझे महिमामयी क्यों बनाया? मुझे क्यों अपनाया? क्या मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ? तुम क्यों मेरे इस प्राण-प्रदीप-दीप्त निभृत-स्वर्णमन्दिर में एक दिन रहस्य-तिमिराच्छन्न अर्द्धरात्रि में अनन्त समुद्र (असीम जीवन) पार कर अभिसार करने आये थे? मैंने अपने किस गुण से तुम्हें आकर्षित कर लिया था? इस करुण प्रश्न का कोई उत्तर न देकर विदेशी कहाँ चला जाता है, कोई नहीं जान पाता। यही चिर-मिलन के बन्धन का अवसान है, यही मथुरा-यात्रा

का दिन है। यही काया का काया-पति के साथ अन्तिम सम्भाषण है। उसके समान शोचनीय विरह-दृश्य किसी दूसरे प्रेम-काव्य में नहीं मिलेगा।"

शृङ्गारिक कवियों का कवित्व—सन्तों की वाणी जहाँ विश्वयोगिनी के रूप में दीख पड़ती है, वहाँ रीतिकालीन कवियों की कविता अलङ्कारमयी अनुरागिनी बनकर अपने अनुपम रूप-लावण्य से माधुर्य्य-प्रेमियों का 'मन-मानिक' चुराती है। यदि भक्तों का काव्य अध्यात्म-लोक को सुख-शान्तिमय बनाने के लिए वाणी-मय हुआ था, तो शृङ्गारिक कवियों की भावना इह-लोक को स्वर्गोपम बनाने के लिए सौन्दर्य्याकुल हुई थी।

प्राचीन हिन्दी-कविता का सर्वश्रेष्ठ अलौकिक विषय है—ईश्वर और उसकी विभूति। इसी प्रकार श्रेष्ठ लौकिक विषय है—पुरुष और प्रकृति (नारी)। ईश्वर के बाद मनुष्य ही उसका उत्कृष्ट चेतन अंश माना गया है, इसी लिए शेष प्रकृति उसी को शोभा-सुषमा एवं आनन्द के उद्भास के लिए, दृश्यपट का काम करती है। यथा—

लता-भवन तें प्रगट भये तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद-पटल बिलगाइ॥

इस प्रकार, प्राचीन हिन्दी-कविता एक ओर ईश्वरीय शोभा-मय है, दूसरी ओर प्रकृति-विलसित मानव-सुषमा-मय। जिस प्रकार ईश्वर और उसकी विभूति के रूप मे राम और सीता का

एक अलौकिक स्वरूप है, साथ ही पुरुष और प्रकृति के रूप में एक लौकिक स्वरूप; उसी प्रकार कृष्ण और राधा का भी अलौकिक तथा लौकिक स्वरूप है। राधा-कृष्ण का अलौकिक रूप प्रकृतो-परि है, लौकिक स्वरूप प्रकृतोपम। प्रकृतोपरि राधा को सुन्द-रता चन्द्रिका से भी अधिक स्निग्धोज्ज्वल है, कमलिनी से भी अधिक कोमलांगिनी है, हरिणी से भी अधिक सुलोचना है, विद्युल्लता से भी अधिक चञ्चला है, उसका निःश्वास वन-कुसुमों से भी अधिक सौरभमय है। इस चरम कल्पना के अतिरिक्त, शृङ्गारिक कवियों ने राधा-कृष्ण के सौन्दर्य्य और प्रेम को जहाँ लौकिक एवं गोचर-रूप में उपस्थित किया है, वहाँ वे हमारे प्रत्यक्ष जीवन के सङ्गीत में एक माधवी झनकार उठा गये हैं।

शृङ्गाररस की कविता के महत्त्व को समझने के लिए उस पर स्नेह, सहानुभूति और गम्भीरता-पूर्वक दृष्टिपात करना चाहिए। असफल, अविदग्ध एवं अकुशल कवियों की कृतियों से अथवा प्रसिद्ध कवियों के साधारण छन्दों से शृङ्गारिक युग की कविता का उचित परिचय नहीं मिल सकता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किन्हीं साधारण रचनाओं द्वारा साम्प्रतिक युग के श्रेष्ठ कवित्व का रस नहीं प्राप्त हो सकता।

शृङ्गाररस के भक्त कवियों के प्रेरक अथवा अगुआ हैं— व्यास, जयदेव और सूरदास। उन्होंने जो काव्य-शैली प्रचलित की, उसी का आगे चलकर अनुकरण और परिपोषण हुआ।

किन्तु उस पर संस्कृत के महाकवियों एवं फारसी की कविताओं का भी प्रभाव पड़ा, जिससे चाहे भक्ति की दृढ़ता न हुई हो किन्तु भाषा में व्यञ्जकता, क्षमता, चमत्कारिता और चारुता की श्रीवृद्धि अवश्य हुई। भाषा का ऐसा सराहनीय परिमार्जन हुआ कि साहित्य-क्षेत्र में वह संस्कृत और फारसी के समकक्ष हो गई। यह सब उन्नति केशव से देव तक अर्थात् ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में हुई है।

सांस्कृतिक-काव्यादर्श—प्राचीन हिन्दी-कविता में कोमल रसों का अधिकाधिक उद्रेक है, यथा—भक्ति, शृङ्गार, वात्सल्य, हास, करुणा। प्राचीन हिन्दी-कविता की ओर से विश्व-साहित्य को यही रस सर्वश्रेष्ठ देन हैं। रौद्र, वीर इत्यादि उत्कट रस अन्य साहित्यों में भी उत्कृष्टता से प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु कोमल रसों की साधना भारत की प्रमुख सांस्कृतिक विभूति है; कारण, भारतीय संस्कृति जीवन को एक शुष्क संघर्ष की अपेक्षा, मुख्यत: मधुरतम उत्कर्ष के रूप में अपनाती है। भारतीय जीवन में संघर्ष केवल अपवाद-स्वरूप आपद्धर्म्म है, संघर्ष में भी विग्रह की अपेक्षा सन्धि की भावना सर्वप्रथम है; महाभारत और रामायण इसके प्रमाण हैं।

आर्य्य-जीवन में सर्व-प्रथम मङ्गल-चरण गणेश का मङ्गला-चरण, भारतीय संस्कृति की कोमलता और मधुरता के साथ ही, हमारी लोक-यात्रा के दृष्टिकोण का भी सूचक है। जीवन का

एक मङ्गल-पथ पर आरूढ़ कर मधुर बनाने तथा अपवाद-स्वरूप विघ्न-बाधाओं का परिहार करने का भाव उस मङ्गलाचरण में है। जीवन की भाँति ही हमारे काव्य का भी लक्ष्य रहा है मङ्गल और मधुर। 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड के प्रारम्भ में ही गोस्वामी जी ने गणेश जी के साथ ही सरस्वती की भी वन्दना कर जीवन और काव्य के इसी लक्ष्य का एकीकरण किया है—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥

जिस प्रकार वर्ण, अर्थ, रस और छन्द एक होकर काव्य की अभिव्यक्ति करते हैं उसी प्रकार जीवन की भी। और इन सब में माङ्गलिकता का समावेश ही इन्हें मधुर-सुन्दर बना देता है। न केवल गोस्वामी जी का, बल्कि शृङ्गारिक हिन्दी-कवियों का भी यही दृष्टिकोण और यही काव्यादर्श रहा है, यद्यपि साधारण रचनाओं में इस आदर्श का निर्वाह नहीं हो सका है।

मङ्गल और मधुर का उपासक होने के कारण भारतीय जीवन की पूर्णता आध्यात्मिकता में थी, चार आश्रमों में संन्यासाश्रम इसी पूर्णता का अन्तिम केन्द्र है। गोस्वामी जी ने इन चारों आश्रमों की समष्टि से रामचरितमानस की प्रबन्ध-रचना की, एवं उन्होंने आध्यात्मिकता को सार्वजनिक स्वरूप दिया। "सिया-राम-मय सब जग जानी" में उनकी यही सार्वजनिक झाँकी है। सूर इत्यादि मुक्तक वैष्णव-कवियों ने उस आध्यात्मिकता को

वैयक्तिक या गार्हस्थ्य रूप दिया। कबीर इत्यादि निर्गुणी सन्तों ने संसार-रहित होकर उसे केवल सार-रूप में ग्रहण किया। शृङ्गारी कवियों ने गृहस्थाश्रम के माधुर्य्य भाव को संसार-सहित ग्रहण कर इस दिशा में अपना भावोत्कर्ष किया। जीवन की मनोहरता के उपासक होने के कारण स्वभावतः उन्होंने गार्हस्थ्य क्षेत्र में सौन्दर्य्य और प्रणय को ही विशेष रूप से अपनाया। भारतीय दृष्टि से, जितने प्रकार से, जितनी विविधता, विपुलता तथा दिव्यता से, सौन्दर्य्य और प्रणय को ग्रहण किया जा सकता है, उन सभी प्रकारों से, तुलसी और सूर से लेकर देव, बिहारी, विद्यापति, मतिराम इत्यादि शृङ्गारी कवियों ने उसे अपनाया है। उस भारतीय जीवन के सरस क्षेत्र मे समय-समय पर जब विजातीय आक्रमणों द्वारा संघर्ष का सूत्रपात हुआ तो चन्द बरदाई और भूषण-जैसे कवियों द्वारा क्षात्रधर्म्म का भी उद्घोष हुआ। प्राचीन हिन्दी-कविता में शृङ्गार रस ही नहीं, अपितु, साहित्य के अन्यान्य रस भी यथास्थान उद्गत हुए हैं। ये रस किसी विषय को लेकर नहीं, बल्कि रसानुकूल नायकों को लेकर प्रवाहित हुए हैं, और वे नायक अपने रस के अन्यतम आलम्बन हैं। इसके अतिरिक्त, काव्य की विभिन्न शैलियों का भी प्रसार हुआ है, यथा—प्रबन्ध, मुक्तक, गीत और अतुकान्त। हाँ, अतुकान्त किसी काव्य-कला के रूप में नहीं, बल्कि निर्मुक्त सन्तों की मनमौजी रचनाओं में ही देखा जा सकता है।

विजातीय सहयोग—प्राचीन हिन्दी कवियों ने अपनी-अपनी रुझान के अनुसार ही विभिन्न रसों को ग्रहण किया और अपनी-अपनी क्षमता की सीमा के अनुसार उन्हें काव्य का कलेवर दिया। किसी कवि में किसी रस-विशेष की प्रधानता सिद्ध करने के लिए बाह्य परिस्थितियाँ ही यथेष्ट नहीं, अपितु उसके आन्तरिक रुझान और परम्परागत संस्कार का अध्ययन भी अपेक्षित है। परम्परागत काव्य-संस्कार की दृष्टि से हम प्राचीन हिन्दी-कविता पर संस्कृत-काव्य-साहित्य का प्रभाव देख सकते हैं। मुस्लिम शासन में हिन्दू समाज पर जितना सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा उतना साहित्यिक प्रभाव नहीं। इसका कारण यह कि संस्कृति, सामाजिक क्षेत्र में छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी, साहित्य में धरोहर की भाँति सुरक्षित रहती है। अतएव, मुस्लिम शासन ने हिन्दू-समाज पर अपना सांस्कृतिक प्रभाव डालकर भी हिन्दी-काव्य द्वारा अपनी सांस्कृतिक विजय नहीं पाई; 'रसखान'–जैसे कवि इसके सूचक है।

हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में जो मुस्लिम कवि आये, उन्होंने अपना भाव-सामञ्जस्य हिन्दी-काव्य की प्रगति के अनुरूप किया। मुस्लिम-संस्कृति दो प्रकार की थी—एक तो 'शरा' (धर्मशास्त्र) से सम्बद्ध, दूसरी धर्मशास्त्रातीत। इस संस्कृति के दो विशेष लक्षण थे–अमूर्त्त सौन्दर्य्यादर्श और शृङ्गारिक भावुकता। उनकी शृङ्गारी भावुकता, शृङ्गारिक हिन्दी कविता से आ मिली;

उन्होंने हमारे ही यहाँ के आदर्शों को अपनाकर हिन्दी-कविता के माधुर्य्य को द्विगुणित किया। इधर अमूर्त्त आदर्श के मुस्लिम कवि हमारे निर्गुणी सन्तों की वाणी से जा मिले। इस प्रकार इन दो काव्य-पद्धतियों-द्वारा मुस्लिम हृदय का साहित्यिक सहयोग सुलभ हो गया।

साहित्यिक संगम—ईसा की १६वीं शताब्दी से हिन्दी-कविता का फ़ारसी कविता के साथ साहित्यिक सङ्गम प्रारम्भ हुआ। फ़ारसी-कविता की प्रतिस्पर्द्धा में हिन्दी-कविता की भाषा का सौन्दर्य्य उस समय से उन्नति करता है, जब निर्गुण सन्तों के हाथ से निकलकर भाषा साहित्यकों के हाथ में आई। इस समय संयोग से देश के शाही-दरबारों में फ़ारस के बहुत से प्रमुख कवि आ गये थे, यथा—उर्फ़ी, नज़ीरी, शकेबी, तालिब, इत्यादि। इनकी उपस्थिति में जब हिन्दी-कवि दरबारों में पहुँचते थे तब स्वभावतः इन्हें अपनी कविता के भी भाव और भाषा के उत्कर्ष को दिखाने की आकांक्षा होती थी। इस महत्त्वाकांक्षा तथा प्रति-स्पर्द्धा ने फ़ारसी-काव्य-साहित्य की उत्तमताओं को अपने में आत्मसात् किया, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है। इस प्रकार हिन्दी काव्य के भाव और भाषा की व्यञ्जकता और सुचारुता ईसा की १६वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर १७वीं शताब्दी में अपनी पूर्णता पर पहुँचती है। १८वीं शताब्दी में प्राचीन हिन्दी-काव्य विश्राम पा जाता है और उसमें पिछले भावों की ही आवृत्ति होने लगती है।

१८वीं शताब्दी में ही फारसी की अवनति होती है और उर्दू का प्रारम्भ होता है। फारसी के साथ-साथ यहीं माध्यमिक हिन्दी की भी उन्नति रुक जाती है। १८वीं शताब्दी में जब उर्दू-साहित्य का शैशव था, उस समय हिन्दी-कविता अपनी प्रौढ़ता तक पहुँच चुकी थी। उर्दू-कविता में फारसी का अनुकरण होने के कारण वह हिन्दी-कविता की उस प्रौढ़ता में उसके लिए प्रभाव-पूर्ण नहीं हो सकी।

ईसा की १९वीं शताब्दी के उत्तर काल से हमारे देश में पश्चिमीय ढंग की राष्ट्रीयता का उदय हुआ और ज्यों-ज्यों हमारा अन्त:प्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बढ़ता गया, त्यों-त्यों हमारे साहित्यिक संगम का विस्तार भी बढ़ता गया तथा बढ़ता जा रहा है।

आधुनिक हिन्दी-कविता

ब्रजभाषा और खड़ी बोली--खड़ी बोली का अस्तित्व, ईसवीं सन् की १३वीं शताब्दी, अमीर ख़ुसरो के समय से मिलता है। इसके बाद बीच-बीच में सीतल, रहीम इत्यादि अन्य कवियों ने भी खड़ी बोली में अपनी वाणी को भूषित किया, किन्तु आज की भाँति साहित्यिक विचारों का प्राधान्य न होने के कारण खड़ी बोली का सर्वतोमुख काव्य-प्रसार नहीं हो सका था। कवियों की अपनी-अपनी उमङ्गो के अनुसार हिन्दी-कविता अधिकांशत: ब्रजभाषा और अल्पत: खड़ी बोली, इन युगल काव्य-कूलों को प्लावित करती रही। १९वीं शताब्दी में, भारतेन्दु-युग में, जब राष्ट्रीयता का उदय हुआ, तब नवीनता के उन्मेष में खड़ी बोली का पुन: स्मरण किया गया। किन्तु, इस राष्ट्रीयता का रुझान काव्य की भाषा की अपेक्षा भाव की ओर ही विशेष होने के कारण, भारतेन्दु के राष्ट्रीय भावों ने भी मुख्यत: ब्रजभाषा का ही स्वरूप पाया। आगे चलकर जब राष्ट्रीयता की भावना क्रमश: अधिक व्यापक और गम्भीर हो गई, तब द्विवेदी-युग में खड़ी बोली को एकच्छत्र साहित्यिक प्रमुखता प्राप्त हुई और आज तो इसका इतना प्रचार हो गया है कि अब यह

भी ध्यान नहीं आता कि द्विवेदी-युग में खड़ी बोली को व्रजभाषा से कितना वाद-विवाद करना पड़ा था।

व्रजभाषा के पुरातन पल्लव में आर्ष्य भारत की चिरसञ्चित साँस है, जिसने युगों तक किन्हीं हिन्दू-भावनाओं को जीवन प्रदान किया है। अब जब कि विश्वसाहित्य के सम्पर्क से हिन्दी-कविता के सम्मुख एक लोकव्यापी युग का प्रश्न आ उपस्थित हुआ, तब खड़ी बोली के नवजात किसलय में नूतन युग के प्रभात ने भी अपनी स्वर्ण-रश्मियों को द्युतिमान् किया है।

भावों में परिवर्त्तन--१९वीं शताब्दी में जब व्रजभाषा के पुराने भावों की पुनरावृत्ति मात्र होने लगी थी, उस समय सर्व-प्रथम भारतेन्दु बाबू ने यह राष्ट्रीय पुकार उठाई--

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई !
हा, हा, भारत-दुर्दसा न देखी जाई ॥

इस प्रकार हिन्दी-कविता की भावुक दिशा में कुछ परिवर्त्तन हुआ। भारतेन्दु-युग के बाद देश-काल के अनुरूप भावनाओं को उत्थित करने में द्विवेदी-युग के कवि अग्रसर हुए। गुप्तजी की 'भारत-भारती' के इन शब्दों में--

स्वच्छन्दता से कर तुझे करने पड़ें प्रस्ताव जो।
जग आर्य तेरी नोक से सोये हुए हों भाव जो ॥

वह जोश था, जिससे अनेक हिन्दी-भाषी पाठकों को राष्ट्रीय और साहित्यिक जागृति मिली। देश में ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय प्रगति

की उन्नति होती गई, त्यों-त्यों हिन्दी-कविता की राष्ट्रीय भावना में भी समयोचित विकास होता गया।

राष्ट्रीय कविता—हिन्दी में राष्ट्रीय कविताओं के सम्बन्ध में मैंने 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' नामक पुस्तक में लिखा था—"राष्ट्रीयता के भिन्न-भिन्न कालों की सीमित भावनाओं की परिधि के अनुरूप लिखी गई कविताएं अपने समय के साहित्य और इतिहास की द्योतक हो सकती हैं, परन्तु विश्व-साहित्य की अक्षय निधि बनने के लिए उन्हें अपनी सीमित परिधि से ऊँचे उठना होगा। उनके शब्दों में विश्वजनीन भावों को भरना होगा। एक निश्चित परिधि में केन्द्रित राष्ट्रीय कविताओं का साहित्यिक महत्त्व बदलता रहता है। कारण, परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार एकदेशीय राष्ट्रीयता के भाव भी बदल जाते हैं। जिस प्रकार रवि बाबू के कोमल प्रभाव से हमारे नवयुवकों में छायात्मक भावों की एक प्रेरणा आई, उसी प्रकार क़ाज़ी नजरुल इस्लाम के 'विप्लव-घोष' से राष्ट्रीय कविताओं की स्फूर्ति भी जगी है।"—इस सम्बन्ध में मेरे कवि-मित्र श्री भगवती-प्रसाद चन्दोला 'सुकुमार' ने एक लेख में लिखा था "माखनलाल, नवीन, सुभद्रा, सोहनलाल आदि की राष्ट्रीय कविताएँ देश की वर्तमान राष्ट्रीय भावनाओं से ही प्रेरित और पोषित हैं, नजरुल के 'विप्लव-घोष' से नहीं। एक बात और भी, नजरुल के काव्य में 'विद्रोह का भैरव-स्वर' हो तो हो; किन्तु हम लोगों की

राष्ट्रीय कविता में विद्रोह-पक्ष की अपेक्षा विरोध-पक्ष ही प्रबल है। हमारी कविता परतन्त्रता और अत्याचार के खिलाफ विरोध (Protest) का प्रस्ताव पास करती है, विद्रोह (Revolt) का झण्डा नहीं फहराती—बग़ावत की आवाज़ नहीं बुलन्द करती। सच तो यह है कि इस युग की समस्त राष्ट्रीय भावना ही विरोधात्मक रही, न कि विद्रोहात्मक। फलतः ऐसी राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित कविता भी उसी के अनुरूप हुई।"—अपने मित्र के इस विचार के साथ सहमति रखते हुए यह निवेदन है कि, हिन्दी में राष्ट्रीय कविताओं का प्रारम्भ देश की राजनीतिक परिस्थिति द्वारा अपने आप हुआ, परन्तु आगे चलकर एकाध नवयुवक नज़रुल का भी काव्यानुसरण करने में अवश्य प्रवृत्त हुए, यद्यपि उनका अनुसरण क्षणिक अनुकरण मात्र रह गया। अस्तु।

हरिश्चन्द्र-युग—हरिश्चन्द्र-युग से लेकर अब तक हमारे काव्य-साहित्य में अनेक ग्रूप बन चुके हैं। भारतेन्दु बाबू के ग्रूप में, सर्वश्री राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र, बदरी-नारायण चौधरी, 'अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि कवि, वे साहित्यिक वीचियाँ हैं, जिन्होंने नन्हीं-नन्हीं हिलकोरें' उठाकर उस युग के काव्य को तरङ्गित किया था। भारतेन्दु-युग में, काव्यो-त्थान की अपेक्षा सबसे बड़ी विशेषता पुरातनता से नूतनता की ओर प्रवेश है। भारतेन्दु-युग ने बीसवीं शताब्दी का द्वार

खोल दिया, द्विवेदी-युग ने उस द्वार पर स्वागत का बन्दनवार लगाया, नवयुग ने उस द्वार से प्रवेश कर हिन्दी-मन्दिर को गुञ्जरित किया।

परम्पराओं के भीतर रहकर उदार सुधारकों की भाँति भारतेन्दु-युग के कवियों ने काव्य मे देश-काल के अनुरूप भावो को प्रश्रय दिया। भावों की नानारूपता एवं विविध विपुलता उस युग की देन नहीं है, हाँ, केवल इसके लिए एक प्रवेश-द्वार मुक्त करने का ही उपक्रम दीख पड़ता है। उस युग का साहित्य आज की एक भूमिका मात्र है, प्रचुर सामग्री नहीं। उस भूमिका के निर्म्माण में देश-काल की जागृति के साथ ही विभिन्न साहित्यो का यत्किञ्चित् उपादान भी है; यथा—उर्दू, बँगला, अँगरेजी और संस्कृत। इन साहित्यों की सहयोगिता हिन्दी की तत्कालीन परिधि के अनुसार लघु मात्रा में ही सन्निहित है। अपने युग के निर्म्माता स्वयं भारतेन्दु बाबू केवल हिन्दी-काव्य की पूर्वपरम्परा से ही प्रेरित नहीं थे, बल्कि वे अन्य साहित्यों की प्रगति से भी परिचित एवं प्रणोदित थे। भारतेन्दुजी द्वारा 'मर्चेंट आफ वेनिस' का हिन्दी-अनुवाद ('दुर्लभ बन्धु') देखने से ज्ञात होता है कि अँगरेजी का आकर्षण उस समय भी था, यद्यपि अँगरेजी साहित्य के सहयोग-विस्तार में भारतेन्दु बाबू अपने अल्पवय के कारण अधिक अग्रसर न हो सके।

भारतेन्दु-युग के उत्तरकाल में जिस दूसरे ग्रूप के दर्शन होते हैं, उसमें सर्वश्री स्वर्गीय रत्नाकर, स्व० राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', स्व० नाथूराम शर्मा 'शङ्कर', अयोध्यासिंह उपाध्याय, स्व० श्रीधर पाठक के शुभ नाम उल्लेखनीय है।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—रत्नाकर जी रीति-युग के आधुनिक प्रतिनिधि-कवि थे। उनकी मुक्तक कविताओं में परम्परागत सूक्तिमय चमत्कारों का समावेश है। विषय भी रीति-युग की भाँति परिमित है। उनकी मुक्तक कविताओं में भाव-विदग्धता उतनी नहीं, जितना कथन का अनोखापन है। रत्नाकर जी अँगरेज़ी साहित्य से अभिज्ञ थे। टेनीसन उनका प्रिय अँगरेज़ी कवि था, इसी लिए कहीं-कहीं उनकी कविताओं पर टेनीसन का प्रभाव दीख पड़ना स्वाभाविक है।

मुक्तक कविताओं के अतिरिक्त, रत्नाकरजी ने कथा-काव्य भी लिखे, यथा—'गंगावतरण', 'हरिश्चन्द्र', 'काशी-वर्णन'। मुक्तक कविताओं की अपेक्षा इन कथा-काव्यों में रत्नाकर जी की प्रतिभा ने अधिक विविधता एवं विपुलता प्राप्त की है। उनमें केवल सूक्ति-चमत्कार नहीं, बल्कि वर्णनात्मकता और रसात्मकता भी है।

रत्नाकर जी की भाषा—ब्रजभाषा होते हुए भी—उसमें मृदुता नहीं है, उसमें सुकुमार लालित्य की अपेक्षा निःस्निग्ध पौरुष अधिक है। उनकी सुगठित-सुपुष्ट भाषा में ओज है, माधुर्य्य नहीं। उनकी भाषा का यह ओज प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं

में रस की कोमलता का बोध नहीं होने देता। कोमल रसों के लिए राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और श्री सत्यनारायण की भाषा, ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों में, अधिक सुमधुर है। रत्नाकर जी के कथा-काव्यों में उनकी भाषा ने प्रशस्त क्षेत्र पाकर यथानुरूप चित्र-निर्म्माण किया है। कहीं ध्वनि-चित्र, कहीं दृश्य-चित्र। निःसन्देह ब्रजभाषा की परम्परा में, रत्नाकर जी एक ऐसे सफल कवि हुए जिन्होंने विधिपूर्वक भावोत्थित कथा-काव्यों की भी सृष्टि की।

नाथूराम शर्म्मा 'शङ्कर'—स्व० नाथूराम अपने 'शङ्कर' उपनाम के अनुरूप ही भाषा में एक प्रखरता भर गये हैं। उनकी कविता के दो रुख रहे हैं—एक तो प्राचीन-पद्धति पर सूक्ति-चमत्कार तथा दूसरे देश-काल के अनुरूप समाज-सुधार। कट्टर आर्य्यसमाजी होने के कारण उनकी सूक्तियों में भी व्याख्यान-विदग्धता है। प्रचलित-अप्रचलित सभी शब्दों द्वारा भाषा में वे अपनी इतनी उत्कटता सिद्ध कर गये हैं कि कहीं-कहीं परुषता और बीभत्सता प्रबल हो गई हैं। रीति-युग में यदि कुछ कवियों ने कहीं भाषा की करामात दिखलाई तो कहीं सूक्तियों की तो आपने भाषा और सूक्ति, दोनों की ही करामात दिखलाई।

देवीप्रसाद 'पूर्ण'—स्वर्गीय 'पूर्ण'जी की कविता में ब्रजभाषा की सुघरता दर्शनीय है। ब्रजभाषा की आधुनिक कविता में भावों के अनुरूप विभिन्न छन्दों का संयोजन आपकी सहृदय

विशेषता है। आपकी कविताओं में सूक्ति-चमत्कार की अपेक्षा भावोद्गार की मार्मिकता है। आपने कुछ सामयिक कविताएँ भी लिखी हैं, जिनमें उर्दू ढंग की वचन-विदग्धता है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय––उपाध्याय जी भाषा के राजगुरु हैं। संस्कृत-गर्भित सुगम्भीर भाषा तथा आम बोल-चाल की मुहाविरेदार सरल भाषा, दोनों पर आपका समान अधिकार है। इसी लिए यदि एक ओर आप उच्चकोटि के भावुक-वर्ग के लिए अपनी प्रतिभा सुलभ करते हैं तो दूसरी ओर जन साधारण के लिए भी। आपके संस्कृत-गर्भित भाषा-नैपुण्य में आपका आर्य्यजनोचित पाण्डित्य प्रदर्शित होता है, मुहाविरेदार उर्दू-मिश्रित भाषा में मुंशी रूप। भाषा की यह द्विविध-विशेषता उपाध्याय जी के अतिरिक्त किसी अन्य आधुनिक कवि में नहीं।

खड़ी बोली के प्रचार के पूर्व आप ब्रजभाषा में रचना करते थे, जिसका सिलसिला अब भी थोड़ा-बहुत जारी है। आपका 'रस कलश' रीति-पद्धति का आधुनिक प्रतीक है। आपकी ब्रजभाषा की मुक्तक कविताओं में श्रृङ्गारिक उक्तियों के अतिरिक्त देश-कालानुसार सामयिक विचार भी निबद्ध हैं। मुक्तक कविताओं के क्षेत्र में आपके कवित्व का उतना विशद परिचय नहीं मिलता, जितना 'प्रियप्रवास' नामक कथा-काव्य में। मुक्तक कविताओं में या तो आप एक सूक्तिकार के रूप में देख पड़ते हैं या नीतिकार के रूप में।

'प्रिय-प्रवास' को लोकानुरूप बनाने के लिए आपने जो महत् प्रयत्न किया है, वह कृष्ण-शाखा के कवियों में आपको एक निजी महत्त्व प्रदान करता है। उसमें कोमल मनोभावों का रसोद्रेक करने में उपाध्याय जी मर्म्म-मधुर हो उठे हैं। कोमल रसों का स्नेहार्द्र हृदय-क्षेत्र ही उनकी कविता का मुख्य केन्द्र है। प्रकृति-वर्णन में कुछ रूढ़ि-निर्वाह होते हुए भी, यथास्थल वह चित्रोपम और चित्ताकर्षक है। 'प्रिय-प्रवास' की संस्कृत-पूर्ण पदावलियों मे आर्य्योचित गरिमा का गम्भीर परिचय मिलता है। खेद है कि उपाध्याय जी ने 'प्रिय-प्रवास' में अपनी प्रतिभा की एक पल्लवित हरीतिमा दिखलाकर पाठकों को वैसी ही कुछ और काव्य-सामग्री नहीं दी। मुक्तक कविताओं की अपेक्षा उनका क्षेत्र 'प्रिय-प्रवास'-जैसे कथा-काव्यों के लिए ही उचित परिमाण में समीचीन जान पड़ता है।

श्रीधर पाठक—पाठक जी भी खड़ी बोली का प्रचार होने के पूर्व ब्रजभाषा में कविता करते थे। द्विवेदी-युग में खड़ी बोली का जो समारोह उठा उसके आप आरम्भिक कवि हुए। खड़ी बोली की पुकार को अग्रसर करने में सहयोग देते हुए भी, पाठक जी अपने व्यक्तित्व के साथ ही, भाषा-सम्बन्धी अपनी स्वतन्त्र रुचि भी रखते थे। हृदय के ललित भावों की ओर उनकी कविताओं की रुझान अधिक रही है, अतएव, खड़ी बोली में कविता लिखते हुए भी आपने यत्र-तत्र अपने भावों की सुघर

कोमलता के लिए ब्रजभाषा के भी शब्दों को अपनाया। इसी लिए हम उनकी कविताओं में ब्रजभाषा और खड़ी बोली को, दो सखियों के रूप में, एकत्र देखते हैं। भावोदार होते हुए भी, जान पड़ता है, पाठक जी साहित्यिक स्वतन्त्रता के अधिक हामी नहीं थे, क्योंकि आगे चलकर उन्हीं के जीवन-काल में नवयुवक कवियों-द्वारा खड़ी बोली के स्वत: रस-स्निग्ध हो जाने पर भी, खड़ी बोली की उस स्वतन्त्र सुन्दरता को उन्होंने पसन्द नहीं किया। उन्हें भावविस्तार तो अपेक्षित था, किन्तु परम्परा पर अवलम्बित रहते हुए।

पाठक जी की भावुकता में रीझ-बूझ प्रधान थी। इसी लिए हम उनकी निजी कृतियों का सुन्दर परिमाण उतना नहीं पाते, जितना अँगरेज़ी से अनूदित कविताओं का। स्वतन्त्र स्फुरण की गौणता के कारण ही वे खड़ी बोली को खड़ी बोली के रूप में नहीं साज सके। उनकी रीझ-बूझ अँगरेजी के क्लासिक स्कूल की ओर होने के कारण वह आधुनिकतम काव्य-प्रवाह से उदासीन थे। आत्मस्फुरण और रीझ-बूझ के समान बैलेन्स के कारण, आगे चलकर, गुप्तजी ने खड़ी बोली का स्वतन्त्र प्राञ्जल संस्कार किया, साथ ही, वङ्गीय साहित्य की उन काव्य-मणियों को हिन्दी के सूत्र में ग्रथित किया जो आधुनिक वङ्गीय वाङ्मय के प्रकाशपुञ्ज हैं।

रत्नाकर जी से लेकर पाठक जी तक के हिन्दी-काव्य-प्रवाह को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि पाठक जी ने भावों के क्षेत्र में कुछ

नूतनता उपस्थित की, विषयों की नवीनता और उनका प्रकृति के साथ रागात्मक प्रसार अपनी विभिन्न कृतियों-द्वारा जितना उन्होंने उपस्थित किया उतना उनके समवयस्क कवियों ने नहीं। बँधे हुए विषयों और बँधी हुई रीतियों पर अन्यान्य कवियों ने बहुत कुछ लिखा, किन्तु जिस प्रकार हमारे सामाजिक जीवन को नूतन विस्तार की आवश्यकता थी उसी प्रकार काव्य-साहित्य को भी। इस दृष्टि से पाठक जी ने निजी और अनूदित कृतियों-द्वारा अपनी ओर से नूतनता का एक बिन्दु-विन्यास अवश्य किया।

पाठक जी की मुक्तक कविताओं में से कुछ तो राष्ट्रीय है कुछ प्रकृति-सुषमा-सम्बन्धी, कुछ अनुराग-सम्बन्धी। सभी प्रकार की कविताओं में भाषा और भाव की सुकुमारता है। उनकी कुछ ऐसी भी मुक्तक कविताएँ हैं, जिनमें नवीनता के उन्मेष के लिए कठिन प्रयास है, जैसे उनकी 'सान्ध्य अटन' शीर्षक कविता में; जिसमे उन्होंने अँगरेज़ी के ब्लैकवर्स के अनुसरण पर अपना रचना-नैपुण्य प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। नैपुण्य-प्रदर्शन से रहित उनकी कविताएँ उनकी सुघर भाव-प्रवणता की द्योतक हैं। प्रकृति-चित्राङ्कण उनकी निजी कृतियों की सर्वोपरि विशेषता है। प्रकृति को केवल उद्दीपनमय उपकरण के रूप में नहीं, बल्कि आलम्बन-रूप में भी उन्होंने उपस्थित किया।

द्विवेदी-युग—तीसरे ग्रुप के कवि हैं—सर्वश्री महावीर-प्रसाद द्विवेदी, कामताप्रसाद गुरु, रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, राय कृष्णदास, गोपालशरण सिंह, रामचरित उपाध्याय, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', स्व० सत्यनारायण 'कविरत्न', स्व० मयङ्क, स्व० बदरीनाथ भट्ट, स्व० मन्नन द्विवेदी, लोचनप्रसाद पाण्डेय, रूपनारायण पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी, सियाराम-शरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, वियोगी हरि, इत्यादि। इनके अतिरिक्त, श्री मुंशी अजमेरी जी तथा श्री शिवाधार पाण्डेय भी द्विवेदी-युग के सत्कवि हैं, जो थोड़ा लिखने पर भी अपनी मधुर सुरुचि से परिपूर्ण है। मुंशी जी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में कविताएँ लिखी हैं। ब्रजभाषा में शब्दानुप्रासों का सङ्गीत तथा खड़ी बोली में भावों का प्रवाहपूर्ण गम्भीर विस्तार दर्शनीय है। 'ताजमहल', 'फतहपुर सीकरी', 'पुरी का पारावार' शीर्षक निजी कविताओं तथा रवीन्द्रनाथ-कृत 'चित्राङ्गदा' के हिन्दी-पद्यानुवाद में आपकी कवित्व-शक्ति का मनोहर परिचय मिलता है। आपमें काव्यानुवाद की क्षमता गुप्त जी की-सी श्लाघनीय है। वयोवृद्ध होते हुए भी आपका कवि समयानुकूल रहता है। पाण्डेय जी की कविता में भाषा और भाव की सरलता तथा हार्दिक स्वाभाविकता मनोमोहक है। उन्होंने प्रायः ब्रजभाषा में ही कविताएँ लिखी हैं।

इस ग्रुप के देखने से ज्ञात होता है कि आधुनिक कविता के पिछले ग्रुपों की अपेक्षा इसमें कवियों का समवाय अधिक है।

द्विवेदी जी खड़ी बोली के आधुनिक काव्यानुष्ठान के याज्ञिक हैं। वे एक उद्भट साहित्यिक नेता हैं; कवियों और लेखकों को लीड करना और उन्हें प्रोत्साहन देना उनकी विशेषता रही। खड़ी बोली के प्रचार के लिए तन्मय-उद्योग तथा गद्य-पद्य की भाषा को एक सुसंस्कृत कलेवर देने का प्रयत्न उनकी श्रेष्ठ साहित्यिक-सेवा है। स्वयं भी उन्होंने कविताएँ लिखीं, निबन्ध लिखे; किन्तु एक ऐसे रचनाकार की हैसियत से, जिसके कर्त्तृत्व को देखकर दूसरों को भी बढ़ावा मिले। इस तीसरे ग्रुप के अनेक कवि, हिन्दी के लिए द्विवेदी जी के उत्साह-दान के काव्योपहार हैं तो कुछ द्विवेदी जी के अनुष्ठान में स्वेच्छा से सम्मिलित कवि हैं, जैसे, श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० रामनरेश त्रिपाठी, स्व० 'मयङ्क'।

खड़ी बोली के इस युग में व्रजभाषा के भी कतिपय कवियों के दर्शन होते हैं—स्व० सत्यनारायण कविरत्न, श्री वियोगी हरि, श्री दुलारेलाल भार्गव।

स्व० सत्यनारायण—आप अल्पवय में ही अपनी व्रज-माधुरी सरसाकर सद्यःप्रस्फुटित पुष्प की भाँति चल बसे। परन्तु उनका काव्य-सौरभ परिमाण में अल्प होने पर भी पूर्ण मधुर है। उनकी कविताओं में विदग्ध-हृदय की बड़ी कोमल कसक है। व्रजभाषा में सामयिक भाव भी आपने कविजनोचित सहृदयता से व्यक्त किये।

वियोगी हरि—वैष्णव-पद्धति पर लिखी आपकी प्रेम-पदावलियों में माधुर्य्य तो है किन्तु उनके दोहों में चमत्कारिक सूक्तियाँ मात्र हैं। इधर इसी पद्धति पर श्री दुलारेलाल भार्गव अपने दोहों द्वारा विहारी की काव्य-प्रतिभा का सामयिक संस्करण प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रबन्ध-काव्य का प्रारम्भ—द्विवेदी-युग में मुक्तक कविताओं के अतिरिक्त कथा-काव्यों का भी खड़ी बोली में श्रीगणेश हुआ। कथा-काव्यों के कवि हैं बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय, पं० रामनरेश त्रिपाठी। इन कवियों ने मुक्तक कविताएँ भी यथेष्ट परिमाण में लिखीं, किन्तु मुक्तक और कथात्मक कविता के क्षेत्र में गुप्त जी की प्रतिभा ने सर्वाधिक प्रसून प्रस्फुटित किये।

विविध कवि—मुक्तक कविताओं के क्षेत्र में आगे चलकर शुक्ल जी, कृष्णदास जी, रामचरित जी, लोचनप्रसाद जी, मुकुटधर जी, रूपनारायण पाण्डेय जी और कामताप्रसाद गुरु जी ने एक प्रकार से अवकाश ले लिया।

शुक्ल जी द्वारा लिखित "हृदय का मधुर भार" तथा "बुद्ध-चरित" का अनुवाद प्रशंसनीय काव्य-कृतियाँ हैं। शुक्ल जी कवित्त और सवैयों में अपनी भाषा को जितना गतिशील कर पाते हैं, उतना छोटे छन्दों में नहीं। छोटे छन्दों में उनका पद-विन्यास गुरुता के बोझ से भारी पड़ जाता है।

रामचरित उपाध्याय अपनी मुक्तक कविताओं से उतना यशस्वी नहीं हुए, जितना अपने 'रामचरित-चिन्तामणि'-नामक प्रबन्ध-काव्य से। आपकी मुक्तक कविताएँ एक प्रकार से संस्कृत के नीति-सूत्रों का हिन्दी-संस्करण प्रस्तुत करती रही हैं, उनमें भावुकता नहीं बल्कि उपदेशात्मकता लक्षित है। नीति-निदर्शन से परे जहाँ कहीं आपकी कविताओं में स्वतन्त्र काव्य-सौष्ठव है, वह शब्दालंकार के चमत्कारिक प्रयोग में है, जिससे भावोद्रेक नहीं, बल्कि अर्थ-वैचित्र्य प्रकट होता है। भाषा आपकी सुसंस्कृत है। राय कृष्णदास जी ने खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों में कविताएँ लिखी हैं। 'भावुक' और 'व्रज-रज' आपके काव्य-संग्रह हैं। परन्तु 'साधना', 'छायापथ' और 'प्रवाल' द्वारा उन्होंने गद्य-काव्य को ही अपनी प्रतिभा का सफल क्षेत्र बनाया।

श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय की कविताओं को देखने से ज्ञात होता है कि उनमें कविजनोचित भावुकता है, किन्तु किसी कारण-वश उसका विस्तार नहीं हो सका। "मृगी-दुःख-मोचन" आपकी उच्चकोटि की सहृदय रचना है।

आपके अनुज श्री मुकुटधर पाण्डेय का द्विवेदी-युग के कवियों में वही सुन्दर स्थान है जो प्रस्तुत युग में श्री सुमित्रानन्दन पन्त जी का; यद्यपि अस्वस्थता के कारण मुकुटधर जी का विशेष काव्य-विस्तार नहीं हो सका। खड़ी बोली के उस शैशव में भी

आपने बड़े कोमल भावों की रचना की। आपकी कविताओं का कोई संग्रह न होना खटकता है। 'विश्वबोध', 'कृषक का गीत', 'स्वागत' और 'अधीर' (प्रकृति-सुषमा-सम्बन्धी रचनाएँ), 'कुररी के प्रति' इत्यादि कविताएँ आपको उज्ज्वल प्रतिभा की प्रतिनिधि हैं।

'मयंक' जी भरी जवानी में ही स्वर्गवासी हो गये। आपकी 'अन्त'-शीर्षक कविता के साथ ही आपके कवित्व का भी अन्त हो गया। इस एक कविता-द्वारा ही उन्होंने अपनी तिरोहित भावी प्रतिभा की एक पूर्ण ज्योति दिखला दी थी।

स्व० भट्ट जी और स्व० मन्नन जी की कोई-कोई कविता अच्छी बन पड़ी है। श्री रूपनारायण पाण्डेय की 'वन-विहंगम' शीर्षक कविता उनकी श्रेष्ठ कविता है, जो सरलता और सहृदयता की दृष्टि से श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय की 'मृगी-दुःख-मोचन' शीर्षक कविता की कोटि की है।

श्री कामताप्रसाद गुरु की कविताएँ प्रौढ़ भाषा में लिखी जाने पर भी बालकों के लिए अधिक उपयुक्त हैं। व्याकरण-सम्मत सुन्दर सुव्यवस्थित वाक्य-विन्यास आपकी लेखनी की विशेषता है।

द्विवेदी-युग के अद्यावधि अग्रसर कवि हैं—सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', सियारामशरण गुप्त।

मैथिलीशरण गुप्त—गुप्त जी खड़ी बोली की वर्तमान कविता के वैतालिक है। 'सरस्वती' द्वारा द्विवेदी जी से काव्य-प्रोत्साहन पाने के पूर्व से ही आप कविता लिख रहे हैं। अपने लिए किसी साहित्यिक पत्रिका के अभाव में आप पहले पहल कलकत्ते से किसी समय प्रकाशित जातीय पत्र "वैश्योपकारक" में अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराते थे। वे रचनाएँ ब्रजभाषा में प्राचीन अन्योक्ति-पद्धति पर लिखी गई थीं। गुप्त जी की साहित्यिक संस्कृति का मूल संस्कृत है। संस्कृत के ज्ञानार्जन ने आपकी रचनाओं में आर्य्यत्व को अंकुरित किया, बँगला के अध्ययन ने उनके काव्यांकुर का सिञ्चन किया, जिसके कारण आपका साहित्यिक विकास केवल परम्परा तक ही सीमित न रहकर कालानुक्रम से विकसित-प्रस्फुटित हुआ। आल्हा-ऊदल की वीरभूमि (बुन्देल-खण्ड) में जन्म पाने के कारण खड़ी बोली की ओजस्विता स्वभावत: आपके मनोनुकूल सिद्ध हुई।

काव्य-क्षेत्र में हम गुप्त जी को द्विविध रूप में पाते हैं—एक तो सामयिक राष्ट्रीय कवि के रूप में, दूसरे शाश्वत जीवन के शाश्वत कवि के रूप में। दोनों के मूल में आर्य्यसंस्कृति का प्रेम है। राष्ट्रीय रूप में यह संस्कृति आत्मसंरक्षण का विचार रखती है, शाश्वत रूप में आर्य्योचित भाव-सौन्दर्य का प्रसार करती है। सांस्कृतिक अनुराग के कारण ही गुप्त जी की कविताओं मे विदेशी रङ्गत नहीं, उसमें वह आर्य्यत्व है जिसका

महत् दर्शन हमें अपने प्राचीन काव्यों में मिलता है। निःसन्देह यह सांस्कृतिक धरोहर वर्तमान कवियों में गुप्त जी को ही महाजनों में अधिकाधिक सुरक्षित है।

मुक्तक और कथा-कृतियों के रूप में गुप्तजी की रचनाओं का परिमाण सभी वर्तमान कवियों से अधिक है। गुप्त जी की मुक्तक कविताओं में से अधिकांशतः वस्तु-पाठात्मक हैं और कुछ भावात्मक। उनकी पाठात्मक मुक्तक कविताएँ आज की विकासोन्मुख काव्य-कला की दृष्टि से बच्चों के लिए लिखी गई रचनाओं-जैसी जान पड़ेंगी। परन्तु उन कविताओं पर विचार करते समय हमें खड़ी बोली के खड़ी होने की प्राथमिक अवस्था का स्मरण करना पड़ेगा, उसके स्वावलम्बन के प्रथम प्रयास की परिधि को हृदयङ्गम करना होगा, तब हमें जान पड़ेगा कि, वे बच्चो-जैसे पद्य खड़ी बोली के नभोन्नत वटवृक्ष के वे बाल्य-किसलय हैं, जिनकी छन्दःशिराओं में उसने कभी अपने नवजीवन की साँस ली थी।

खड़ी बोली के उस आरम्भिक युग में गुप्त जी ने जो भावात्मक कविताएँ लिखी थीं, उनमें से कुछ में छायावाद और रहस्यवाद की भी अभिव्यक्ति है। 'झङ्कार'-नामक कविता-संग्रह यदि आपकी ऐसी कविताओं का सुन्दर प्रतिनिधि है तो 'स्वदेश-सङ्गीत' राष्ट्रीय कविताओं का।

मुक्तक कविताओं की अपेक्षा, कथा-काव्य, गुप्त जी का सफल क्षेत्र है। आर्य्य-संस्कृति की जीवन-गाथा उनकी प्रिय काव्य-सामग्री है। यात्रा-पथ में संयोग-सुलभ जलाशय की भाँति ही भाव भी उनकी जीवन-गाथाओं में यथास्थान झलक मारते हैं। कोरी भावुकता उन्हें अभिप्रेत नहीं जान पड़ती, वे आदर्शवादी हैं, अतएव आदर्शचरित्राङ्कित प्रबन्ध काव्यों मे ही अपना कवित्व अधिक प्रस्फुटित कर सके हैं। मुक्तक कविताओं में भावों की ही अवतारणा प्रधान रूप से करनी पड़ती है, अतः मुक्तक के संक्षिप्त सरोवर में उनके कवित्व का दीर्घ प्रसार नहीं होने पाता। कथा-काव्यों द्वारा ही उन्हें जीवन-सरिता की विभिन्न दिशाओं में उन्मुख होने का सुअवसर मिलता है, जिसमें भाव ही प्रधान नहीं, अपितु वस्तु-जगत् का मर्म्मोद्घाटन करने की विशेषता भी अपेक्षित रहती है। इसके लिए कवित्व के अतिरिक्त औपन्यासिक और नाटकीय क्षमता भी अपेक्षित है। गुप्त जी को यह क्षमता प्राप्त है। यही कारण है कि, प्राचीन पौराणिक गाथाएँ भी गुप्त जी की कृतियों में केवल कथा-मात्र-सी नहीं लगतीं, बल्कि वे शाश्वत जीवन की सुसङ्गठित कहानियों-सी लगती हैं। भारत के प्राचीन रस-स्निग्ध मृत्तिका-पात्र द्वारा वे आर्य्यजीवन के जिस नवनीत को उपस्थित करते आये हैं, उसकी सञ्जीवनी शक्ति चिर अक्षुण्ण रहेगी।

गुप्त जी ने अब तक कई खण्डकाव्य और 'साकेत' नामक महाकाव्य लिखा है। खण्डकाव्यों मे 'जयद्रथ-वध', 'अनघ',

'पञ्चवटी', 'त्रिपथगा', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'सिद्धराज', उनकी कवित्वपूर्ण कृतियाँ हैं। आधुनिक युग में गुप्त जी ही कथा-काव्यों के प्रमुख हैं और इस प्रकार वे इस मुक्तक-प्रधान युग में प्राचीन प्रबन्ध-परम्परा के संरक्षक हैं।

उनके कथा-काव्यों में यदि औपन्यासिक क्षमता प्राचीन गाथाओं को जीवन की शाश्वत-कहानी का रूप देती है तो नाटकीय क्षमता उस कहानी में प्राण-स्पन्दन भर देती है। उनके हास्यचित्र और सौन्दर्य्य-चित्र दर्शनीय हैं। सौन्दर्य्योद्घाटन में उनकी आलङ्कारिक योजनाएँ बहुत ही सटीक बैठती हैं। उनके स्वच्छ अन्त्यानुप्रासों की भाँति ही उनकी आलङ्कारिक योजनाएँ भी अपने स्थान पर आप हैं। अवश्य ही कहीं-कहीं उनके शब्द लालित्य-रहित हो जाते हैं, अन्त्यानुप्रास कोरी तुकबन्दी बन जाते हैं और भाव रूढ़ि-च्युत हो जाते हैं। इसका कारण उनकी वह ठेठ भावुकता है जो परिमित रहकर उनके कवित्व को स्वाभाविक विदग्धता प्रदान करती है तो अपरिमित होकर कवित्व को अशोभन भी कर देती है।

आधुनिक कविता में अधिकाधिक काव्य-विस्तार के साथ ही खड़ी बोली के शब्दों के प्राञ्जल प्रयोग और छन्दों के विविध चुनाव का प्रथम श्रेय गुप्त जी को है। भाषा और पद-विन्यास पर पूर्ण अधिकार होने के कारण वे बँगला के उत्कृष्ट काव्यों का हिन्दी-अनुवाद करने में सफल हुए। उनकी निजी और अनूदित

कृतियों का एकत्र परिमाण उनके काव्य-भाण्डार को विशाल कर देता है।

रामनरेश त्रिपाठी—खण्डकाव्यों के प्रसङ्ग में गुप्त जी के बाद पं० रामनरेश त्रिपाठी का नाम उल्लेखनीय है। त्रिपाठी जी ने अब तक तीन खण्डकाव्य ('मिलन', 'पथिक', 'स्वप्न') लिखे हैं; इनके अतिरिक्त अनेक मुक्तक-कविताएँ भी, जिनका संग्रह 'मानसी' में है।

त्रिपाठी जी की रचनाओं में सामयिक भावापन्नता विशेष है। देश-काल की प्रवृत्तियो और आदर्शों के अनुसार कविता को लोकोपयोगी बनाना आपका ध्येय है। •काव्य-द्वारा सामयिक आदर्श की पूर्त्ति करने मे त्रिपाठी जी के कवित्व की परिधि परिमित हो गई है। इसी लिए उनके खण्डकाव्यों में एक ही कथा, एक ही राष्ट्रीय आदर्श, विभिन्न शब्दों मे, थोड़े ही हेर-फेर से, प्रकट हुआ है। केवल राष्ट्रीय सामयिकता आपकी कविताओं का आधार होने के कारण उसे विविध जीवन का वह विशाल प्राङ्गण नहीं प्राप्त हो सका, जिसे बहुव्याप्त आर्य्य-जीवन द्वारा प्राप्त कर गुप्त जी की प्रतिभा चतुर्मुख फूली-फली।

त्रिपाठी जी की कविताओ मे परदु:ख-कातरता और सेवा का भाव प्रबल है, उनका सम्पूर्ण कवित्व इसी एक आदर्श की ओर उन्मुख है। परमात्मा की आराधना में भी उन्होने इसी आदर्श की झाँकी उतारी है, सौन्दर्य की उपासना में भी आपने इसी आदर्श

को प्रधानता दी है। आदर्श की इस शुभ दिशा में त्रिपाठी जी के कवि-हृदय की संवेदना उच्चकोटि की है, उनकी सहृदय पंक्तियाँ यत्र-तत्र हृदय को आर्द्र कर देती हैं। उनके खण्डकाव्य उनकी सहृदयता के प्रतीक हैं ही, मुक्तक-कविताओं में 'विधवा का दर्पण', 'तेरी छवि', 'अन्वेषण', 'उपचार' शीर्षक कविताएँ भी मर्म्म-स्पर्शिनी हैं।

त्रिपाठी जी की मुक्तक-कविताओं में यदि एक गति है तो गुप्त जी की मुक्तक-कविताओं में एक सङ्गीत। एक में उद्‌गीर्णता है, दूसरे में विभोरता। गुप्त जी के छन्दों और शब्दों में भी आर्य्यत्व का ध्यान है, त्रिपाठी जी के शब्दों और छन्दों में राष्ट्रीयता का विचार। त्रिपाठी जी की भाषा सार्वजनिक गद्य के लिए जितनी उपयुक्त जान पड़ती है, उतनी कविता में लालित्य के लिए नहीं।

अपनी मुक्तक-कविताओं में त्रिपाठी जी ने उर्दू छन्दों को भी अपनाया है और हिन्दी-छन्दों को भी। आपकी मुक्तक-कविताओं में नवीनता का स्वागत और प्राचीनता का समावेश है। प्राचीन पद्धति पर सूक्ति और नीति के पद भी आपने लिखे हैं, उसी पद्धति पर कुछ सामयिक हास्य-कविताएँ भी। पूर्व-कथनानुसार मुक्तक-कविताओं में त्रिपाठी जी की दृष्टि भावोद्भावना की अपेक्षा विचारोद्भावना की ओर अधिक है। खण्ड-काव्यों में भी यही दृष्टि है, किन्तु उनमें विचारों की

गद्य-भित्ति पर यत्र-तत्र आपने भावों का चारु चित्र-शिल्प भी सुशोभित किया है।

'स्वप्न' की अपेक्षा 'मिलन' और 'पथिक' में त्रिपाठी जी का कवि-हृदय अधिक मुकुलित है। 'स्वप्न' में वे कुछ प्रोजिक-से हो गये हैं। 'स्वप्न' के लघुमात्रिक अन्त्यानुप्रास अधिकांशतः शिथिल तुकबन्दी हो गये हैं, जिसके कारण वे वाक्य के आवेग को वहन नहीं कर पाते। 'स्वप्न' में छन्दोबद्धता की ओर जितना ध्यान दीख पड़ता है, उतना भाव के सङ्गीत की ओर नहीं।

त्रिपाठी जी को कवि के अतिरिक्त गद्य-लेखक का भी गौरव प्राप्त है। गद्य-क्षेत्र में उन्होंने जो रचनात्मक कार्य्य किये है, वे उनकी साहित्यिक चिन्तनशीलता के उच्चतम द्योतक है।

गोपालशरण सिंह—ठाकुर गोपालशरण सिंह प्रेमाराधना के कवि हैं। उनकी प्रेमाराधना सूफी ढंग पर निखिल छवि में व्याप्त पुरुप पुरातन के प्रति है। एक लौकिक प्रेमी की भाँति उन्होंने उसी के ध्यान में अपने को निवेदित किया है। उनकी कविताओं में बहुत ही सीधे-सादे उद्‌गार हैं, यथास्थान सीधे-सादे शब्दों के प्रयोग से ही वे भाव अपनी स्वाभाविकता में खिल पड़े हैं। उनके प्रणय-निवेदन और शब्द-सङ्गठन में उर्दू का-सा चोज है। द्विवेदी-युग के कवियों मे गुप्त जी के अतिरिक्त, भाषा के मार्जन का श्रेय आपको भी है। आपने व्रजभाषा के चिरपरिचित कवित्तों और सवैयों में भी खड़ी बोली की सुघर सृष्टि की है।

भाषा और अभिव्यक्ति-शैली आपकी कविता के सहज सुन्दर नगीने हैं; इन्हीं के द्वारा आपने चिरपरिचित अलङ्कारों और उक्तियों में भी निजी प्रकाश विकीर्ण किया है। 'माधवी' में आपके कवित्तों और सवैयों का संग्रह है। अन्य प्रचलित छन्दों में भी आपने कविताएँ लिखी हैं, जिनमें 'उपवन', 'परदे में', 'मुसकान', इत्यादि सुन्दर कविताएँ हैं। भक्ति-रस के अतिरिक्त आपने शृंगार और हास्य रस की भी रचनाएँ की हैं, इनके अतिरिक्त कुछ सामयिक रचनाएँ भी।

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'—श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' अपनी भावात्मक कविताओं में सनेही हैं, राष्ट्रीय कविताओं में 'त्रिशूल'। 'त्रिशूल' नाम से लिखित आपकी राष्ट्रीय कविताओं ने भी किसी समय आधुनिक हिन्दी-कविता में इस ढग की रचनाओं का एक समुदाय बना दिया था, जिसकी कुछ झनकार 'राष्ट्रीय वीणा' नामक पुस्तक के दो खण्डों में संगृहीत है।

सनेही जी राष्ट्रीय रचनाओं में आधुनिक पद्धति के रचनाकार हैं, भावात्मक कविताओं में प्राय: प्राचीन पद्धति के। प्राचीन पद्धति पर आपने ब्रजभाषा में समस्या-पूर्तियाँ की हैं; उसी पद्धति पर प्रेम-सम्बन्धी रचनाएँ भी की हैं। प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं में उर्दू कविता की तर्ज-अदा भी है। उनकी खड़ी बोली की कविताओं में भावगूढ़ता गौण तथा वर्णन की स्वच्छता विशेष है। उनकी सबसे बड़ी ख़ूबी आमफ़हम भाषा है।

उपाध्याय जी भी आमफहम भाषा के मास्टर हैं, किन्तु उनकी रुझान मुहाविरों की ओर अधिक होने के कारण भाषा को एक बन्दिश में पड़कर छन्द-सम्बन्धी समस्यापूर्त्ति करनी पड़ती है। सनेही जी की भाषा किसी खास मुहाविरे या हिन्दी-उर्दू के किसी खास शब्द को अनिवार्यत: अपना कर नहीं चलती; बल्कि उसमें बातचीत की एक स्वाभाविक रवानगी मिलती है, जिसमें हिन्दी-उर्दू के शब्द यथास्थान स्वयमेव आ जाते है।

काव्य-प्रेरणा—उपाध्याय जी, पाठक जी, गुप्त जी, सनेही जी, गोपालशरण जी की रचनाओं ने आधुनिक तरुण-पीढ़ी को काव्य-क्षेत्र मे अग्रसर किया है। सनेही जी के काव्य-साहचर्य्य की प्रेरणा से श्री अनूप शर्म्मा तथा श्री जगदम्बाप्रसाद 'हितैषी' अपनी रचनाओं-द्वारा स्वानुकूल पाठकों का प्रीति-लाभ कर रहे हैं। श्री गोपालशरण जी की काव्य-शैली से एक सुन्दर प्रेरणा पाकर स्वर्गीय कौशलेन्द्र राठौर ने कवित्तों और सवैयों में अत्यन्त स्वाभाविक और मार्म्मिक रचनाएँ की थीं। 'काकली' में उनकी कविताओं का सुन्दर सग्रह है।

गुप्त जी की कृतियों ने अनेक नवयुवकों को काव्य-क्षेत्र में प्राथमिक प्रेरणा दी है। श्री सियारामशरण गुप्त आपके अनुज ही नहीं, बल्कि आपके काव्योत्साह के ऐसे प्रसाद है, जो द्विवेदी-युग मे उदित होकर भी अपनी अद्यावधि काव्य-प्रगति से वर्तमान युवक-वर्ग में भी शोभन हैं।

सियारामशरण गुप्त—अपने पूज्य अग्रज के पदानुसरण में आपने भी पहले वस्तु-पाठात्मक मुक्तक-कविताएँ लिखी थीं, बाद को कथात्मक और मुक्तक भावमयी कविताओं की ओर आपकी रुझान हुई। 'मौर्य्य-विजय' और 'अनाथ' आपकी बहुत पहले की लिखी काव्य-कहानियाँ हैं। गुप्त जी की प्रवृत्ति की भाँति सियाराम जी की भी प्रवृत्ति कथा-साहित्य की ओर है। किन्तु उनमें मुक्तक की प्रतिभा प्रधान होने के कारण वे गुप्त जी की भाँति विशेष रूप से प्रबन्ध-काव्य न लिख सके, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गुप्त जी में कथा-साहित्य की प्रतिभा प्रमुख होने के कारण वे मुक्तक-क्षेत्र में अधिक भावाग्रसर न हो सके। अपने अपने सुलभ क्षेत्र के अनुसार इन युगल बन्धुओं ने अपनी-अपनी प्रबन्ध-प्रतिभा को विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिफलित किया—गुप्त जी ने अपने 'चन्द्रहास' और 'तिलोत्तमा' की नाट्य-प्रतिभा को अपने प्रबन्ध-काव्यों में तथा सियाराम जी ने 'मौर्य्य-विजय' और 'अनाथ' की आख्यान-प्रतिभा को अपनी कहानियों और उपन्यासों में। इस प्रकार युगल गुप्त-बन्धु गद्य और काव्य के क्षेत्र में एक दूसरे के पूरक कलाकार हैं। एक दूसरे के अभाव नहीं, भराव हैं।

सियाराम जी की मुक्तक-कविताओं के विशिष्ट संग्रह ये हैं—'आर्द्रा', 'विषाद', 'दूर्वा', 'पाथेय'। 'आर्द्रा' में सकरुण-काव्य-कहानियाँ हैं। 'विषाद' और 'दूर्वा' में भावना-मूलक कविताएँ

है, जिन्हें हम छायावाद-शैली के अन्तर्गत ले सकते हैं। 'पाथेय' में उनकी चिन्तना-मूलक कृतियाँ है, जिनमें रहस्यवाद की भी झलक देखी जा सकती है। इधर आपकी कविताओं का एक संग्रह 'मृण्मयी' नाम से प्रकाशित हुआ है।

सियाराम जी की कविताओं में उनके कवि-हृदय की सूक्ष्म-दर्शिता और सूक्ष्मग्राहिता का समावेश है। इस विशेषता के कारण वे चिरपरिचित छोटे-छोटे दृश्यों और लोकानुभवों में ही बड़ी गहराई तक पहुँच जाते हैं, यथा 'वट' शीर्षक कविता में। कला में आदर्श के उपासक होने के कारण वे अपनी भाव-गूढ़ता-द्वारा केवल चित्राङ्कण का लक्ष्य न रखकर तथ्योद्‌घाटन का भी ध्यान रखते हैं। उनके तथ्य, नीति-निदर्शन के बजाय चित्र-मय रहते हैं, इसी लिए सुभाषित वचनों की भाँति केवल उपदेशात्मक नहीं हो जाते। 'पाथेय' में उनकी इसी प्रकार की कविताएँ हैं।

'विषाद' और 'दूर्वादल' की भावना-मूलक कविताओं में कवि की उस कल्पना-शीलता का परिचय मिलता है जिसके द्वारा केवल तथ्य-दृश्य की नहीं, बल्कि हृदय-चित्र की भी भाषा लिखी जाती है। अपने हास-अश्रु की घड़ियों में कवि-हृदय मूर्त्त (वस्तु) जगत् से ऊपर उठकर जिन अमूर्त्त भावनाओं (कल्पनाओं) के पलनों में झूलना चाहता है, तदपेक्षित भाव-प्रवणता भी इन कविता-पुस्तकों में है।

सियाराम जी की मुक्तक तथा कथात्मक सभी कविताएँ इतिवृत्तात्मक हैं, कहीं दृष्टान्त-रूप में तो कहीं वृत्तान्त-रूप में। इतिवृत्तात्मकता बुरी चीज़ नहीं, वह भी कविता की अभिव्यक्ति का एक कलेवर है। भाव के अनुलेप से इस कलेवर में भी सुघरता आ जाती है। हाँ, कोरी इतिवृत्तात्मकता पद्यबद्ध निबन्ध लिख सकती है, भावोद्रेक नहीं कर सकती। कोरी इतिवृत्तात्मकता को हम वस्तुविन्यास अथवा पदार्थ-पाठ कह सकते हैं। सियाराम जी की इन कविताओं में कोरी इतिवृत्तात्मकता नहीं है, इसी लिए उनमें भावुक हृदयों के लिए भी उपादान हैं। खड़ी बोली की उस तैयारी के युग' में उदित होकर भी सियाराम जी केवल सामयिक प्रवाह के वाहक मात्र न रहकर, चिर-स्पन्दनशील कवित्व के एक भावक भी हुए; इसका कारण यह कि बँगला के माध्यम से उनकी कविजनोचित सहृदयता हिन्दी से इतर काव्य-प्रगतियों से भी प्रेरित एवं प्रोत्साहित हुई और किसी सामयिक प्रगति में ही केन्द्रित नहीं रही।

'आर्द्रा' की छोटी-छोटी कहानियाँ करुणा से आर्द्र हैं। कविता में संक्षिप्त कहानी-कला की दृष्टि से 'आर्द्रा' हिन्दी में बिलकुल अकेली कृति है। 'आर्द्रा' की कहानियाँ केवल मानवी सहानुभूति को ही नहीं, बल्कि मनुष्य के आत्मबोध को भी बड़ी मार्म्मिकता से जागरूक करती हैं। सियाराम जी के कवित्व की सबसे बड़ी विशेषता उनकी विदग्ध लेखनी से निःसृत करुणा-

रस की स्रोतस्विनी में है। उनकी गद्य-पद्यमयी सभी कृतियों में इसी स्रोतस्विनी की उच्चतर मेघ-छाया है। हाँ उनकी भाषा, कविता मे भी गद्य की भाषा है। वाक्यों में पद-प्रवाह है, किन्तु शब्दों में कुछ सूखापन है। उनके प्रत्येक रस की भाषा प्रायः एक ही प्रकार की है, जब कि गुप्तजी की भाषा रसानुकूल प्रवाहित होती है, यद्यपि उनके वाक्यों का ढाँचा गद्य का-सा रहता है।

गद्य और पद्य की भाषा—द्विवेदी-युग में खड़ी बोली के गद्य और पद्य, दोनों की भाषा को एक-सा बनाने का जो प्रयत्न हुआ, उसमें अनिवार्य्यतः कविता की भाषा प्रोज़िक हो गई। उस समय की प्रारम्भिक इतिवृत्तात्मक कविताओं के लिए प्रोज़िक भाषा अनुपयुक्त नहीं थी, कारण भाव-गर्भित भाषा में उस प्रकार की कविताएँ लिखी जाने पर उनके लिए वह बेमेल साज का काम करती। परन्तु आगे चलकर, जब कालानुक्रम से द्विवेदी-युग की कविता में भी भाव-विकास होने लगा तो भाषा के काव्योचित परिवर्त्तन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता थी। भाव तो स्वभाव के अनुसार विकसित हो गये, किन्तु भाषा अभ्यास या संस्कार-वश गद्य-प्रधान रह गई। कविता में, कुछ अंशों में, भाषा के प्रोज़िक हो जाने की भी गुञ्जाइश रहती है; परन्तु सानुप्रास भावमयी कविताओं में नहीं, बल्कि अतुकान्त या प्रबन्ध-कविता में। अतुकान्त का सन्निकट सम्बन्ध जितना वार्त्तालाप की स्वाभाविकता से है, उतना

भावात्मक कविता में नहीं। इसी लिए, प्रबन्ध-रचना में भाव के अतिरिक्त, कथोपकथन, नाट्याभिनय और इतिवृत्तात्मक वर्णन के भी होने के कारण, अतुकान्त की भी उपयुक्तता जान पड़ती है। स्व० पाठक जी, उपाध्याय जी और गुप्त जी ने विभिन्न रीतियों से अतुकान्त की एक-एक छवि दिखलाई। पाठक जी अपनी अतुकान्त कविता (यथा-"सान्ध्यअटन") में बहुत कुछ प्रोज़िक हो गये। गुप्त जी 'मेघनाद-वध' और 'वीराङ्गना' में मूल के अनुसार कवित्व-प्रधान रहे। उपाध्याय जी के 'प्रिय-प्रवास' में, भाव-प्रवणता के कारण, अतुकान्त का तुकान्त कविता से भिन्न सौन्दर्य प्रकट नहीं हुआ। हाँ, 'प्रिय-प्रवास' की संस्कृत-गर्भित भावापन्न भाषा, गद्य से पृथक् कविता के स्वतन्त्र भाषा-सौन्दर्य्य की बहुत कुछ प्रतिष्ठापना कर सकी।

वर्तमान युग—भारतेन्दु-युग ने प्राचीनता से नवीनता की ओर आने का देश-काल के अनुसार जो बिन्दु-विन्यास किया, निःसन्देह द्विवेदी-युग में उसे रेखा-विस्तार मिला। द्विवेदी-युग के कवियों ने खड़ी बोली की रेखाओ द्वारा जो चित्र-निर्देश किया, उससे उत्तरोत्तर आनेवाले कवियों के लिए, अपनी-अपनी प्रतिभा के नूतन रूप-रङ्ग भर, अनेक छवि, अनेक स्वरूप विनिर्मित करने का सुयोग प्राप्त हुआ।

द्विवेदी-युग की कविता ने केवल द्विवेदी जी द्वारा परिचालित कवियों को ही अग्रसर नहीं किया, अपितु, साम्प्रतिक युग के

अन्य कवियों को भी। बा० जयशङ्कर 'प्रसाद' और पं० माखन-लाल चतुर्वेदी भी उसी युग की देन है। यद्यपि उन्होंने द्विवेदी-युग की काव्यपद्धति पर अग्रसर होकर अपनी कविताएँ नहीं लिखीं, तथापि खड़ी बोली के महोत्साह मे सम्मिलित होने का उत्साह उन्हे द्विवेदी-युग के अनुष्ठान से ही मिला। स्वयं 'प्रसाद' जी भी खड़ी बोलो के प्रचार के पूर्व, व्रजभाषा में ही कविताएँ लिखते थे। खड़ी बोली में उन्होंने जो आरम्भिक रचनाएँ कीं, उनमे से कुछ में तो केवल वस्तु-पाठ हैं, कुछ मे स्वगत प्रेम-भाव।

प्रसाद जी और चतुर्वेदी जी दोनो की कविताओं में प्रेमभाव की प्रधानता है; अवश्य ही अन्यान्य कवियों की भाँति उन्होंने कुछ राष्ट्रीय रचनाएँ भी की हैं। खड़ी बोली में जब युगधर्म्म के अनुसार राष्ट्रीय कविताओं तथा अन्यान्य चलते विषयों की ओर अधिकांश कवियों की दृष्टि उन्मुख थी, उस समय प्रसाद और माखनलाल ने व्रजभाषा के माधुर्य्य भाव को भी अपना-कर नवयुवक-हृदयों को मोहित किया। व्रजभाषा का माधुर्य्य-भाव मुख्यत: राधाकृष्ण में आलम्बित तथा प्राय: रूढ़ि-निर्वाह में परिमित हो जाने के कारण खड़ी बोली के इस माधुर्य्य-भाव में पाठकों को एक भिन्न आकर्षण एवं आत्मसादृश्य मिला।

हाँ, प्रसाद और माखनलाल के माधुर्य्य-भाव का गोमुख एक ही (व्रजभाषा) होने पर भो दोनों की अभिव्यक्ति-शैली दो भिन्न पथो पर आरूढ़ हुई।

जयशङ्कर 'प्रसाद'—'प्रसाद' की कविता ने संस्कृत और कदाचित् बँगला से भी आत्मप्रेरणा पाकर हिन्दी कविता की पुरानी शैली से पृथक् स्वरूप प्राप्त किया। उनके 'कानन-कुसुम' और 'झरना' नामक काव्य-सग्रहों को देखने पर उनका विकास-क्रम स्पष्ट हो जाता है। 'कानन-कुसुम' की रचनाओं में से कुछ में तो प्राचीन आख्यानों की साधारण अभिव्यक्ति है, कुछ में पुराने भावों का नवीन चमत्कार, कुछ में रवीन्द्रनाथ की भाँति धार्मिक विश्वासों का लौकिक समावेश। किन्तु 'झरना' की कविताएँ केवल भावना-प्रधान हैं। 'कानन-कुसुम' के बाद उसी में 'प्रसाद' का प्राथमिक कवित्व-विकास है। उसमें 'कानन-कुसुम' के चिराभ्यस्त पुरातन विषय नहीं हैं, बल्कि भावानुभूत क्षणों के नवीन हृदय-चित्र हैं। 'झरना' के बाद लिखी गई मुक्तक कविताओं का संग्रह 'प्रसाद' की 'लहर' में है। 'कानन-कुसुम' की कविताएँ यदि प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं तो 'झरना' और 'लहर' की कविताएँ विशेषतः मनोवृत्तात्मक।

प्रसाद मुख्यतः मानुषी सौन्दर्य्य और प्रेम के कवि हैं। किन्हीं मुक्तक कविताओं के अतिरिक्त 'प्रेम-पथिक' तथा 'आँसू' नामक गाल्पिक कविताएँ प्रशस्त रूप से लिखकर आपने अपनी रुचि की दिशा को स्पष्ट कर दिया है। 'कामायिनी' नामक बृहत् प्रबन्ध काव्य में भी आपने अपने माधुर्यमूलक भाव-क्षेत्र को उर्व्वरित किया है।

'प्रसाद' की संस्कृति बौद्धिक होने के कारण उन्होंने अनुराग की पद्मारुण उषः-आभा की समाप्ति विराग की काषायिनी सन्ध्या में की है। किन्तु इस विराग में अकाल-संन्यास है, उसमें हृदय का विराम नहीं, बल्कि अभाव-जन्य उपराम है। जान पड़ता है, प्रसाद का कवि अस्तित्व का उपभोग निश्चिन्त होकर नहीं कर सकता, इसी लिए उसमें एक हड़बड़ाहट या अदृष्ट की आशङ्का बनी रहती है।

जिस प्रकार साहित्य-क्षेत्र में आपका कृतित्व समष्टि रूप से बहुमुखी है, उसी प्रकार काव्य-क्षेत्र में भी आपकी रुझान अनेक-मुखी रही है—मुक्तक, अतुकान्त, नाटकों के गीति-काव्य, चम्पू, गीतिनाट्य ('करुणालय'), प्रबन्ध-काव्य, इतनी विविध दिशाओं में आपके कवित्व का प्रसार हुआ है। संस्कृत-साहित्य का संस्कार अधिक होने के कारण आपकी भाषा निराला जी की भाषा की भाँति संस्कृत-गर्भित है। 'लहर' में निराला जी की शैली में आपने जो अतुकान्त मुक्तछन्द लिखे हैं, उनकी अभिव्यक्ति तथा भाषा दोनों निराला जी की शैली से एकरूप हो गई हैं। परन्तु प्रसाद की इतर कविताओं की भाषा तथा निराला की कविताओं की भाषा में कुछ अन्तर है—निराला की भाषा में तुमुल तरङ्गावलियों की-सी अविराम धड़कन सुनाई पड़ती है, प्रसाद की भाषा में हिलकोरों का-सा शनैः-शनैः स्पन्दन।

प्रसाद जी जितना भावों के कवि हैं, उतना भाषा के नहीं। उनकी भाषा प्रौढ़ है, किन्तु पूर्णतः सुडौल और सुस्निग्ध नहीं। उसमें कुछ अंशों में ओज है, लालित्य नहीं।

प्रसाद की मुक्तक-कविताओं में से कुछ तो प्रत्यक्ष रूपक-मय प्रकृति-चित्र हैं, कुछ अरूप (अमूर्त्त) मनोभाव, जिन्हें वे साङ्केतिक ढङ्ग से प्रकट करते हैं, जो कि पाठकों की भाव-जिज्ञासा को जाग्रत् करते हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा'—चतुर्वेदी जी की कविताओं में भाव-साङ्केतिकता अधिक है। वे अपनी प्रेम-भावनाओं को इस ढङ्ग से उपस्थित करते हैं, जैसे कोई नेपथ्य-वाणी। उनकी छोटी कविताओं का बैकग्राउण्ड अप्रत्यक्ष रहता है; प्रत्यक्ष अंश किसी प्रेमाख्यान का भाव-मय उपसंहार-सा ज्ञात होता है, अतएव व्यञ्जना-द्वारा ही उनकी कविता का पूर्ण अभि-प्राय हृदयस्थ हो सकता है।

उनकी कविताओं में राष्ट्रीयता और प्रेमाराधना की गङ्गा-यमुना दो भिन्न दिशाओं में बही हैं। अपरिचित भावुक उनकी सभी रचनाओं में से राष्ट्रीयता खोज निकालने का दुष्फल प्रयत्न करते हैं। ये दोनों भाव-प्रवाह उनकी रचनाओं में पृथक्-पृथक् प्रवाहित हैं। प्रेमाराधना का ही भाव माखनलाल जी की कविताओं में प्रधान है। उनकी दोनों ही प्रकार की रचनाओं में ओज है।

उनकी प्रेमात्मकता में प्राचीन हिन्दी-कविता का-सा माधुर्य्य-भाव तथा उर्दू की-सी वचन-विदग्धता है। उनके गद्य और पद्य की भाषा में कुछ सादृश्य है, गद्य के आवेग और काव्य के भावोद्वेग के कारण उनकी कविता की भाषा एक गद्य-काव्य की भाषा है। उनकी भाषा में यद्यपि साहित्यिक छटा विशेष नहीं, किन्तु स्वाभाविक वार्त्तालाप की-सी मार्म्मिकता है। उर्दू, हिन्दी, संस्कृत के जो सहज सुलभ शब्द बातचीत में स्वयं आ जाते हैं, उन्हीं के भाव-प्रवण प्रयोग से वे हिये की गहराई मे उतरते है। उनके शब्दो और भावों में जी की कचट रहती है, जिसकी एक और ही दुनिया है। हाँ, उनकी कविताओं मे कल्पनाओं और भावनाओं की विपुल सृष्टि नहीं, शब्दों की बहुवर्ण चित्रसारी नहीं; केवल जी की कुछ कसक है। वे मुख्यत: कवि हैं। गौणत: कलाकार।

माखनलाल जी की प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं का तद्रुचि भावुक युवको में यथेष्ट प्रचार है, उनकी रचनाओं से उन्हे काव्य-प्रेरणा भी मिली है। माखनलाल जी के कवित्व के प्रेरणा-स्वरूप सर्वश्री बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्म्मा तथा सुभद्राकुमारी चौहान हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हैं। अवश्य ही इनकी काव्य-शैली माखनलाल जी की शैली से तद्रूप नहीं, परन्तु जिस प्रकार एक ही समीर विभिन्न जलाशयों को उनकी प्रगति के अनुसार विभिन्न दिशाओं में उद्यत कर देता है, उसी

प्रकार माखनलाल जी की कविताओं मे प्रेरित कवि भी विभिन्न-रूपेण गतिशील हुए हैं।

नवयुग के प्रमुख कवि—द्विवेदी-युग से भिन्न, साम्प्रतिक काव्य-प्रगति के प्रमुख प्रेरक कवि हैं—प्रसाद, माखनलाल, निराला, पन्त, महादेवी, इत्यादि। इन्हीं कवियों की काव्यशैलियों ने नवोदित कवियों को परिचालित किया है, और इनके द्वारा उन्मुख कवियों ने क्रमागत अन्यान्य कवियों को भी उसी प्रकार अग्रसर किया है जिस प्रकार विभिन्न तरङ्गावलियाँ एक के बाद एक दूसरी तरङ्गें उठाती चली जाती है। उक्त कवियों मे से माखनलाल तथा पन्त का प्रभाव नवयुवकों पर अधिक पड़ा—माखनलाल जी का एकाङ्गी तथा पन्त जी का समष्टि रूप से। जिन युवक कवियों पर माखनलाल जी की प्रेम-विदग्धता का प्रभाव पड़ा, वे भी पन्त जी के कला-बोध (शब्द-सौन्दर्य्य तथा भाव-सङ्गीत) से अनुप्राणित हुए।

पन्त और निराला—प्रसाद और माखनलाल के बाद, पन्त और निराला का प्रकाश्यरूप से कवि-दर्शन, सन् २३-२४ से विशेष रूप से मिलता है, यद्यपि इनका रचना-काल सन् १५-१७ से प्रारम्भ होता है। इस बीच ये अदृश्य रूप से ही प्रस्फुटित होकर भावुकों के सम्मुख आविर्भूत हुए। ये प्रकाश्य रूप से एक साथ नवयुग के क्षितिज में उदित हुए, अतएव, स्वभावतः इन पर भावुकों की दृष्टि भी एक साथ ही पड़ती है, यद्यपि दोनों के

काव्यगत व्यक्तित्व में बहुत अन्तर है। निराला जी की कविता ओजस्विनी है, पन्त की कविता श्रीमयी। भूषण और सूर के ओज तथा श्री में जो अन्तर है वही निराला और पन्त की कविता में। पन्त और निराला ने खड़ी बोली की आधुनिक कविता में कला-बोध का अधिकाधिक विस्तार किया। शब्दों और छन्दों की नूतनता तथा भावों की विविधता का श्रेय इन्हें प्राप्त है।

पन्त जी ने कुछ तुकान्त छन्दों को भावों के अनुरूप गति प्रदान कर उन्हें अधिक से अधिक सुचारु एवं मनोहर बना दिया है। उनके छन्दों में उनकी कविता, रसानुरूप, कहीं कलरव करती हुई, कहीं उद्घोष करती हुई बहती है। निराला जी ने मुक्त छन्दों को जन्म दिया, भाव-स्वतन्त्रता तथा वाक्-स्वतन्त्रता के लिए। भाव-स्वतन्त्र मुक्त छन्द तुकान्त कविता के अनुरूप है, वाक्-स्वतन्त्र अतुकान्त छन्द गीतिनाट्य के अनुरूप। हिन्दी में मुक्त छन्द की सृष्टि निराला जी की एक अनोखी देन है। अतुकान्त कविता तथा निराला जी के मुक्त छन्द के सम्बन्ध में, "हमारे साहित्य-निर्म्माता" नामक पुस्तक में, प्रसाद और निराला के काव्य-प्रसङ्ग में, हम यथेष्ट प्रकाश डाल चुके हैं; अतएव यहाँ पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं।

खड़ी बोली की वर्तमान उन्नति—शुक्ल जी के शब्दों में—"खड़ी बोली की कविता जिस रूखी-सूखी चेष्टा के साथ खड़ी

हुई थी, उसमें काव्य की झलक बहुत कम थी। खड़ी बोली की कविताओं में उपमा-रूपक आदि के ढाँचे तो रहते थे, पर लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता और भाषा की विमुक्त स्वच्छन्द गति नहीं दिखाई देती थी। 'अभिव्यञ्जनावाद' के कारण योरप के काव्य-क्षेत्र मे उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृत्ति जो हिन्दी के वर्तमान काव्य-क्षेत्र मे आई उससे खड़ी बोली की कविता की व्यञ्जना-प्रणाली में बहुत कुछ सजीवता और स्वच्छन्दता आई। लक्षणाओं के अधिक प्रचार से काव्य-भाषा की व्यञ्जकता अवश्य बढ़ रही है। दूसरी अच्छी बात यह हुई कि अप्रस्तुतों या उपमानों के रखने में केवल सादृश्य-साधर्म्य पर दृष्टि न रहकर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर अधिक रहने लगी है।"—यह तो वर्तमान हिन्दी-कविता में बाह्य आलङ्कारिक परिवर्त्तन की एक बात हुई, इसके अतिरिक्त आभ्यन्तरिक परिवर्त्तन भी हुआ है और वह यह कि काव्य केवल कलात्मक न रहकर कवियों के निजी सुख-दुःख से भी हृदय-संवेद्य हो गया है। काव्य का उद्‌गम कवियो का अपना-अपना विभिन्न जीवन बन जाने के कारण, विशाल विश्व-सृष्टि में एक मुक्तक व्यक्तित्व के समान ही उनका कवित्व भी मुक्तक-प्रधान है। यह उलाहना कि "जीवन की अनेक मार्मिक दशाओं, जगत् की अनेक मार्मिक परिस्थितियों के उद्‌घाटन-द्वारा भावों में मग्न करने में कवियों की वाणी तत्पर नहीं

दिखाई दे रही है, अतः वर्तमान रचनाओं का बहुत-सा भाग जीवन से विच्छिन्न दिखाई पड़ता है" केवल इस अर्थ में ठीक हो सकता है कि मुक्तक-कविताओं में प्रबन्ध-काव्य की भाँति एकत्र इनका समावेश नहीं दिखाई पड़ता, केवल अनुभूतिमय क्षणों के विविध मुक्तक रूप में इनका विरल परिचय मिलता है। किन्तु जो कुछ है वह जीवन से विच्छिन्न नहीं, जीवन के विविध बिन्दु-रूप में है। काव्य में विशाल जीवन-समुद्र का प्रसार तो गोस्वामी तुलसीदास-जैसे प्रभूति-प्राप्त महा-कवियों की प्रबन्ध-कुशलता द्वारा ही सभव है। अस्तु।

भाषा का उत्कर्ष—निराला और पन्त ने भावो की विविधता के अतिरिक्त, खड़ी बोली की कविता की भाषा का एक प्राञ्जल उत्कर्ष भी किया है। निराला की भाषा मे खड़ी बोली का मानसिक पौरुष है, पन्त की भाषा में उसका हार्दिक माधुर्य्य।

निराला जी के संस्कृत-बहुल सघन पद-विन्यास से उनकी कविता की भाषा में एक गम्भीर भराव आ जाता है। उनकी भाषा मे एक प्रगाढ़ता है, पन्त की भाषा में सजलता। खड़ी बोली की कविता के लिए यह प्रवाद था कि, उसकी खड़-खड़ाहट मे व्रजभाषा-जैसा माधुर्य्य नहीं आ सकता। किन्तु खड़ी बोली का भाषा-सम्बन्ध संस्कृति के साथ भी होने के कारण उसमें संस्कृत का ओज और माधुर्य्य दोनों ही साध्य है। द्विवेदी-

युग में स्वर्गीय पाठक जी ने ब्रजभाषा के सम्मिश्रण से खड़ी बोली को मधुर बनाने का प्रयत्न किया था, अतएव खड़ी बोली का स्वतन्त्र सौन्दर्य्य रिक्त था। गुप्त जी ने खड़ी बोली का निजी साँचा हिन्दी और संस्कृत के साहचर्य्य से दुरुस्त किया। उनकी भाषा मे ओज का विशेष रूप से तथा माधुर्य्य का गौण रूप से समावेश हुआ। भाषा मे गद्य का संस्कार प्रधान होने के कारण खड़ी बोली में ओजस्विता स्वभावतः आ गई, किन्तु मधुरता के लिए भाषा को वाग्य-कुशलता से ही नहीं, बल्कि सङ्गीत के कोमल व्यक्तित्व से भी द्रवित होने की आवश्यकता थी। पन्त की कविताओं में भाषा का कोमल सङ्गीत खड़ी बोली के अन्य सभी कवियों से अधिक मुखरित हुआ। उन्होंने खड़ी बोली को इतना सरस बना दिया है कि वह माधुर्य्य में ब्रजभाषा के समकक्ष हो गई है।

हिन्दी कविता के साहित्यिक इतिहास में कम से कम भाषा की दृष्टि से पन्त का एक अपूर्व स्थान है। उन्होंने ही खड़ी बोली की खुरदुराहट दूर कर उसे सुस्निग्ध एवं मनोरम बनाया है। ब्रजभाषा तो स्वतः मधुर है और युगों तक नाना कवियों द्वारा अपनाई जाकर उसने पूर्ण साहित्यिक सुघरता भी प्राप्त कर ली है; किन्तु खड़ी बोली की स्थिति उससे बिलकुल भिन्न है। इस दिशा में पन्त को ब्रजभाषा के कवियों की अपेक्षा अधिक स्वावलम्बी बनना पड़ा है। भाषा और भाव दोनों ही

दृष्टि से पन्त जी को खड़ी बोली के नीरस कलेवर में रस-सञ्चार का श्रेय प्राप्त है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—भावना और तर्कना एवं अनुभूति और बुद्धि निराला जी की कविताओं के युगल वाहक है। उनकी बुद्धिशीलता उन्हें तार्किक और दार्शनिक के रूप में उपस्थित करती है तो अनुभूतिशीलता कवि के रूप म। उनकी कविताएँ यत्र-तत्र दार्शनिक है, अधिकांशतः भावनामय, सौन्दर्य्य-मय। निराला जी अपनी ऐसी ही कविताओं और गीतों में रसोद्रेक करने में प्रायः सफल हुए हैं।

निराला जी की भाषा उनके गीतों के लिए कहीं-कहीं भारी पड़ जाती है। संस्कृत-बहुल ज्ञान-गम्भीर पद-विन्यास हिन्दी गीतों के सहज प्रवाह को कुण्ठित कर देता है। जिस प्रकार छन्द की प्रवाह-पूर्ति होने पर भी शब्दों का भाव के अनुरूप एक निजी बहाव भी रहता है, उसी प्रकार गीतों में स्वरालाप की पूर्त्ति होने पर भी रस के अनुरूप शब्दों की भी एक अपनी सङ्गीत-पूर्ण गति रहती है, जिसके द्वारा स्वर-प्रवाह में शब्द सन्तरण करते हैं। वर्तमान हिन्दी-गीतिकाव्य मे शब्द और स्वर का एकसमान सङ्गीतमय सौन्दर्य्य बहुत कम गीतों में मिलता है। निराला जी के उन गीतों मे मिलता है जहाँ शब्द अपने पाण्डित्य में नहीं, अपने सरस बहाव में बहते हैं।

उनकी दार्शनिक पंक्तियों में वेदान्त-सम्बन्धी विचारों की छन्दोबद्धता है, उसमें 'वाम्य-ज्ञान' का पाण्डित्य है। उनके 'परिमल' की 'कण'-शीर्षक कविता उनके तर्कनापूर्ण वाक्यज्ञान का ही एक उदाहरण है—

"तुम हो अखिल विश्व में
या यह अखिल विश्व तुममें ?"

इस प्रकार की बुद्धिशीलता, छन्दोबद्ध होते हुए भी, कविता को बोझिल बना देती है। यह बुद्धिशीलता जहाँ कहीं उनकी भावनामयी कविताओं में भी समाविष्ट हुई है, वहाँ भी वह भारी पड़ गई है; यथा—'वासन्ती'-शीर्षक कविता के चित्र-सङ्गीत में ये पंक्तियाँ—

"अति गहन विपिन में जैसे
गिरि के तट काट रही हैं—
नव-जल-धाराएँ, वैसे
भाषाएँ सतत बही हैं।"

निर्झर-प्रवाह में शिलाखण्ड की भाँति यह वाक्यज्ञान बोझिल हो गया है। उनके अनेक गीत भी इस वाक्यज्ञान से बोझिल है। यह वाम्य-ज्ञान कविता की अपेक्षा गद्य के लिए अधिक स्थानीय है, इसी लिए निराला जी के अतुकान्त मुक्त छन्द में उसे उचित गौरव प्राप्त होता है; यथा—'पञ्चवटी-प्रसङ्ग' में। निराला जी का अतुकान्त मुक्त छन्द गत्यात्मक गद्य-काव्य है,

तुकान्त मुक्त छन्द सङ्गीतात्मक पद्य-काव्य । पद्य-काव्य भावावेग का प्रमुख क्षेत्र है, गद्य-काव्य विचारावेग का भी। निराला जी के अतुकान्त छन्दों में उनके विचारावेग का पौरुष उनके हृदय के ज्वलन्त व्यक्तित्व का द्योतक है, यथा—"जागो फिर एक बार" तथा "महाराज शिवाजी का पत्र" में। उनके "बादल" और "आवाहन"-जैसे तुकान्त मुक्त छन्दों में भी उनका ऐसा ही पौरुष है, जो कि भाव-मय उद्गार के रूप में होने के कारण कवित्वपूर्ण है। निराला जी की दार्शनिक पङ्क्तियाँ तर्कना-पूर्ण ही नहीं, बल्कि किन्हीं गीतों में चिन्तनापूर्ण भी है, यथा—"हमें जाना है जग के पार" वाले गीत में। तर्कना बुद्धि के कोरे पाण्डित्य की द्योतक है, चिन्तना बुद्धि की जागरूकता की। चिन्तना जब मस्तिष्क से उतरकर हृदय में लीन हो जाती है, तभी उसे भावना का सरस-स्वरूप मिलता है। चिन्तना अनुभूतियों का सन्धान करती है, भावना उसका सञ्चयन। भावना-द्वारा अनुभूति का जो दर्शन मिलता है, काव्य के लिए वही 'दार्शनिकता' अभीष्ट एवं हृदय-ग्राह्य है। निराला जी की आध्यात्मिक पङ्क्तियों तथा इतर कविताओं में जहाँ-जहाँ इस प्रकार का अनुभूति-दर्शन मिलता है, वहाँ हृदय का सङ्केत है। आपकी प्रकाशित कविता-पुस्तकों के नाम हैं—'परिमल', अनामिका', 'गीतिका', 'तुलसीदास'।

मुक्तक और निबन्ध—निराला जी की कविताएँ मुक्तक होते हुए भी निबन्धात्मक हैं। पन्त की कविताओं की भाँति एक

ही मुक्तक मे अनेक भाव नहीं, बल्कि एक मुक्तक मे एक ही भाव की पूर्णता है। गद्य मे जिस प्रकार विचारों की पुष्टि की सतर्कता उन्हें निबन्ध का रूप दे देती है, उसी प्रकार कविता मे भी भावो को युक्ति-युक्त बनाने अथवा प्रतिपादित करने के लिए उन्हें निबन्ध का स्वरूप मिल जाता है। निःसन्देह पन्त की मुक्तक कविताओं में यह निबन्धात्मकता नहीं। उनके मुक्तक के आकाश मे उनके भाव नक्षत्रों की भाँति विकीर्ण हैं, उनकी विविधता में ही उनका सौन्दर्य्य है; उनमें काव्योचित प्रकाशन है, निबन्धोचित प्रतिपादन नहीं।

मुक्तक कविताओं में साङ्ग रूपक निबन्ध का ही एक आलङ्कारिक रूप है, उसके द्वारा एक संक्षिप्त भाव-निबन्ध प्रस्तुत हो जाता है। उपाख्यान-रहित विस्तृत मुक्तक कविताओं में एक ही रूपक तथा एक ही भाव की इतिमत्ता अनिवार्य्य न होने के कारण भावों का नक्षत्रों को भाँति विकीर्ण हो जाना अशोभन नहीं जान पड़ता। कथा-काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य को यह सुविधा प्राप्त है कि उसकी एक वाटिका में कल्पना की विभिन्न डालियों पर विविध भाव विभिन्न रूप-रङ्ग में खिल सकते है, जब कि कथा-काव्य के कण्ठ में उनका एकरूप मालाकार हो जाना आवश्यक रहता है। विस्तृत कविताओं में एक ही मुक्तक अनेक उपमुक्तकों की सृष्टि कर सकता है; यथा—एक तरङ्ग अनेक भङ्गिमायें।

पन्त का काव्योपहार—पन्त ने हिन्दी-कविता में मुक्तकों को एक विशेष उत्कर्ष दिया है। मध्ययुग में एक-एक कवित्त या

एक-एक सवैया में एक-एक भाव या एक-एक चित्र के रूप में मुक्तकों की सृष्टि हुई थी। सूर इत्यादि वैष्णवों के गीति-काव्यों में इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं एक भावना का विविध उत्थान-पतन भी दीख पड़ता है। द्विवेदी-युग में एक विषय इतिवृत्तमय पदार्थपाठ के रूप में उपस्थित कर दिया जाता था। साम्प्रतिक युग में एक विषय के भाव-प्रवण विस्तार का ध्यान रक्खा गया। पन्त ने भाव-प्रवण विस्तार ही नहीं, चित्र की अनेकता तथा भाव की विविधता को सङ्गीतोपम स्वरूप दिया। पन्त की एक-एक विस्तृत मुक्तक कविता एक-एक खण्ड-काव्य की तरह शोभायमान है, जिसकी पंक्तियाँ किसी कथानक पर अवलम्बित नहीं, बल्कि उनमें भावों का सुदीर्घ उत्थान-पतन तथा प्रकृति-सौन्दर्य का विपुल निरीक्षण है। प्रकृति ने उनकी कविताओं में दृश्य-पट का ही नहीं, बल्कि मनुष्यों का-सा जीवित व्यक्तित्व भी प्राप्त किया है। उनके कई विषय बिलकुल नये रूप में अवतरित हुए हैं, जैसे—'छाया', 'अनङ्ग', 'बादल', 'वीचि-विलास', 'विश्ववेणु', 'नक्षत्र', 'चाँदनी' इत्यादि। इनमें भी 'छाया' जैसे अमूर्त्त विषय को अपनी विपुल कल्पनाओं-द्वारा साकार कर देना तथा 'अनङ्ग' और 'बादल'-जैसे चिर-परिचित विषयों को नव-छवि, नव-ध्वनि प्रदान करना, पन्त की उर्वर कवि-प्रतिभा का सूचक है। हाँ, कहीं-कहीं अन्य कवियों के भावों से उन्होंने पाथेय भी लिया है।

प्रकृति-परिशीलन—सूर, तुलसी और रसखान मानवी सौन्दर्य्य से प्रभावित होकर प्रभु की परम छवि की ओर उन्मुख हुए थे, परन्तु वर्तमान कवि प्रकृति-छवि से भी प्रेरित होकर उस परम शोभामय की ओर आकृष्ट होते हैं। यथा—'बादल-राग'—

निरञ्जन बने नयन-अञ्जन !
आज श्याम-घनश्याम, श्याम छवि,
मुक्तकण्ठ है तुम्हें देख कवि,
अहो कुसुम-कोमल कठोर-पवि !
शत-सहस्र-नक्षत्र-चन्द्र-रवि-सस्तुत
नयन - मनोरञ्जन !
बने नयन-अञ्जन !
—निराला

उस परम शोभामय की उपासना, आर्य्य-संस्कृति में देवता और देवी के रूप में प्रकट हुई है—जहाँ विष्णु हैं वहीं लक्ष्मी हैं, जहाँ कृष्ण है वहीं राधा है; किन्तु दोनो विभिन्न नहीं, एक ही परम चेतन के युगल मनोरम आवरण हैं—

"जो हरि सोई राधिका, जो शिव सोई शक्ति।
नारी जो सोई पुरुष, या में कछु न विभक्ति॥"

हमारे विश्वजीवन के भी ये ही दो अभिन्न चेतन रूप हैं। प्रकृति में ये जो नाना रूप-रङ्ग दिखाई पड़ते हैं, वे एक ही विश्व-

विमोहन की व्यापक छवि के प्रतिविम्ब हैं। बिहारी ने बाँसुरी के लिए कहा है—

अधर धरत हरि कै परत ओठ डीठि-पट-ज्योति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुप-रँग होति॥

जैसे हरित बाँस की बाँसुरी उसी 'एक' के विविध रङ्गों से इन्द्रधनुषी आभा धारण करती है, वैसे ही यह बाह्य प्रकृति उसी एक की छवि से छविमान्, द्युति से द्युतिमान् है। अखिल प्रकृति के भीतर से, नाना सुरों में, उसी एक परम चेतन की वंशी आठों याम बजती रहती है।

अपनी भावनाओं की सुकुमारता और पौरुष के अनुरूप ही विभिन्न भारतीय कवियों ने उस चिरसुन्दर के युगल स्वरूप में से किसी एक रूप का अथवा युगल रूप का चिन्तन किया है; किन्तु सब का लक्ष्य एक ही है—उस अनन्त सौन्दर्य और प्रेम की लोकानुभूति।

प्रकृति-निरूपण प्राचीन और नवीन हिन्दी-कविता में एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। लौकिक सृष्टि में मनुष्य की उत्कृष्टता के कारण, प्राचीन हिन्दी-कविता में प्रकृति मनुष्य को ही सब तरह से सजाती-सँवारती है; वह मनुष्य के ही व्यक्तित्व से विमण्डित होकर उसी के मनोभावों और मनोवेगों को प्रमुखता प्रदान करती है। वह मानवी और मानव-द्वारा दैवी अभि-व्यक्ति के लिए ही अपना अस्तित्व बनाये हुए है, उसका अपना

व्यक्तित्व प्रायः नहीं के बराबर है; फल-फूल की भाँति ही निखिल प्रकृति मनुष्य के स्वेच्छानुकूल उपयोग की वस्तु बन गई है। प्रकृति का यह उपयोग प्राचीन हिन्दी कविता में तीन प्रकार से किया गया है—

(१) रसोद्दीपन के रूप में, (२) दृष्टान्त के रूप में और (३) उक्ति-चमत्कार के रूप मे। इनमें से उद्दीपन के लिए प्रकृति से अधिक साहाय्य लिया गया है। शृङ्गार रस की उद्दीप्ति के लिए षड्ऋतु-वर्णन की एक परम्परा ही चल पड़ी थी। छहों ऋतुएँ मदन का गोपन सन्देश लेकर आती थीं और हृदय को कसक-मसककर चली जाती थीं। इस प्रकृति-प्रदीप्त शृङ्गाररस में कहीं-कहीं सूक्ष्म कवित्व भी दीख पड़ता है; यथा, वसन्तागमन पर देव कवि का एक रूपक—

> डार द्रुम पलना बिछौना नव पल्लव के,
> सुमन झँगूला सोहै तन छवि भारी दे।
> पवन झुलावै, कीर केकी बहरावैं देव,
> 'कोकिल हलावै हुलसावै करतारी दै॥
> पूरित पराग सों उतारो करै राई-लोन,
> कंज-कली-नायिका लतानि सिर सारी दै।
> मदन महीप जू को बालक बसन्त, ताहि
> प्रातहिं जगावत गुलाब चटकारी दै॥

दृष्टान्त-निरूपण के लिए प्रकृति का उपयोग तुलसीदास-जैसे नीतिप्रेमी कवियों ने किया है। उनका 'शरद-वर्णन' देखिए—

फूले कमल सोह सर कैसे। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसे ॥
गुञ्जत मधुकर-निकर अनूपा। सुन्दर खग-रव नाना रूपा ॥
चक्रवाक मन दुख निशि पेखी। जिमि दुर्जन पर-सम्पति देखी ॥
चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहै न शङ्कर-द्रोही ॥
शरद-ताप निशि शशि अपहरई। सन्त-दरस जिमि पातक टरई ॥

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्राचीन हिन्दी-कविता में प्रकृति मानवी जगत् के लिए एक अलङ्करण और उपकरण विशेष है। कहीं-कहीं उसका भावमय दृश्य-निर्देश भी मिलता है, किन्तु या तो मानव-चित्र को दृश्यपट प्रदान करने के लिए या आलङ्कारिक उक्तियों के चमत्कार-प्रदर्शन के लिए। प्रकृति-सम्बन्धी आलङ्कारिक उक्तियों में रस-तन्मयता या आत्मानन्द की अपेक्षा दूर की सूझ मात्र है। यथा—

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी-प्राननाथ भय।
मानहु 'केशवदास' कोकनद कोक प्रेममय ॥
परिपूरन सिन्दूर पूर कैधौं मङ्गल घट।
किधौं शक्र को मढ्यो मानिक-मयूख-पट ॥
कै सोनित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिगभामिनि के भाल को ॥

इस उक्ति-चमत्कार में युक्ति-युक्तता है किन्तु पूर्ण रसात्मकता नहीं। इस प्रकार के प्रकृति-निरूपण से रस-विक्षेप हो जाता है; हृदय में कोई एक रस रम नहीं पाता। दृष्टि-पथ पर किसी पूर्ण चित्र के उदित होने की अपेक्षा दृश्यविभ्रम हो जाता है। प्रकृति-निरूपण की यह आलङ्कारिक प्रणाली व्रजभाषा के प्राचीन कवियों से लेकर भारतेन्दु बाबू तथा श्रीधर पाठक के समय तक विद्यमान थी। इस प्रकार के दृश्य-विधान में प्रकृति की कोई सर्वाङ्गमूर्त्ति नहीं दीख पड़ती, बल्कि एक आकार के अनेक प्रकार दीख पड़ते है, उनसे कौतुक होता है, एकात्मता नहीं होती।

श्रृङ्गारिक कवियों के अतिरिक्त सूर और तुलसी-जैसे भक्त-कवियों ने भी प्रकृति-शाेभा को आलङ्कारिक रूप में ग्रहण किया है, किन्तु उनके प्रकृति-निरूपण में एक रसात्मकता तथा एक चित्रता है। उनके आराध्यों की प्रकृति-शोभित झाँकी तथा उससे उद्गत रस-माधुरी हृदय को तृप्त करती है। इन्हीं भक्त-कवियों द्वारा प्रकृति, न केवल मानवी बल्कि दैवी अभिव्यक्ति का भी माध्यम बनी।

वर्तमान हिन्दी-कविता में प्रकृति केवल उद्दीपनमय नहीं, बल्कि वह स्वयं भी एक श्रेष्ठ आलम्बन है। प्रकृति को आलम्बन के रूप में उस समय से ग्रहण करते है जब सभ्यता विभीषिका की सीमा पर पहुँचती है और कविगण मनुष्य को, उसकी कृत्रिमता देखकर, प्रकृत स्वरूप देने के लिए

प्रकृति की ओर लौटाते हैं। हमारी ही तरह प्रकृति की भी एक अपनी दुनिया है, जहाँ वह स्वेच्छानुकूल लीला-विस्तार करती है। वह यदि मानवी अभिव्यक्ति का माध्यम रही है, तो आज मनुष्य भी निसर्गदत्त सौन्दर्य और उल्लास लेकर प्राकृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया है। यथा—

"लाई हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
तरल-तुहिन वन का उल्लास
लोगी मोल, लोगी मोल ?
विरल जलद-पट खोल अजान
छाई शरद-रजत-मुसकान,
यह छवि की ज्योत्स्ना अनमोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?"

आज तो वैज्ञानिक सभ्यता की विभीषिका के कारण, नदियों और पक्षियों के मुक्त कलरव का आकाश तोपों की गड़गड़ाहट से आक्रान्त होता जा रहा है। प्रकृति की रम्य वाटिकाएँ युद्धध्वस्त खँडहरों में परिणत होती जा रही हैं। ऐसी विकट विडम्बना में भावुक हृदयों को अपनी जन्मधात्री प्रकृति के स्नेहाञ्चल का स्मरण आ गया है। प्रकृति के रूप में मातृभूमि की कल्पना कर भावुकों ने उसे एक दिव्य स्वरूप प्रदान कर दिया है—

"अयि भुवन-मनोमोहिनी,
अयि निर्म्मल सूर्य्य-करोज्ज्वल धरणी जनक-जननी जननी।
नील-सिन्धु-जल धौत चरण-तल
अनिल-विकम्पित श्यामल अञ्चल
अम्बर-चुम्बित भाल हिमाचल
शुभ्र तुषार-किरीटिनी, अयि भुवन-मनोमोहिनी।"

क्या ही सुन्दर हो, यदि इस प्रकृति-रूपा मातृभूमि की इकाई से सम्पूर्ण विश्व बन्धुत्वमय हो जाय।

सुमित्रानन्दन पन्त—हिन्दी कविता के नवीन युग के प्रकृति-सुषमा-प्रधान कवि पन्त जी हैं। वे उस अलौकिक छवि के अखिल-व्याप्त सुकुमार नारी-रूप के उपासक हैं, यथा—

घने लहरे रेशम के बाल,—
धरे हैं सिर में मैंने देवि!
तुम्हारा यह स्वर्गिक शृङ्गार,
स्वर्ण का सुरभित-भार!
मलिन्दों से उलझी-गुञ्जार,
मृणालों से मृदु-तार;
मेघ से सन्ध्या का संसार
वारि से ऊर्म्मि-उभार;
—मिले हैं इन्हें विविध उपहार
तरुण-तम से विस्तार।

वही एक नारी-रूप प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों में कहीं माता है, कहीं सहचरी है, कहीं प्रेयसी;—हमारी गृहलक्ष्मियों ही की तरह। वह निखिल भुवनमोहिनी एक रूप में अनेक होकर चतुर्दिक् प्रकृति में अपनी शोभा-सुषमा छाये हुए है। इसी लिए पन्त के कवि-हृदय ने उसे सम्बोधित किया है—

"देवि, मा, सहचरि, प्राण !"

पन्त के सुचारु काव्य-संग्रह हैं 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव' और 'गुञ्जन'। 'वीणा' की कविताओं में पन्त का प्रारम्भिक कवि-स्वरूप है। पन्त ने किस प्रकार भाषा और भाव का सौन्दर्य्य ग्रहण करने का प्रथम प्रयत्न किया, इसका परिचय 'वीणा' और 'ग्रन्थि' द्वारा मिलता है। 'वीणा' के शब्दों और वाग्बन्धों में किशोरावस्था की अपरिपक्वता होते हुए भी उनमें सुरुचि की एक अस्फुट प्रतिमा है। 'ग्रन्थि' में इससे कुछ आगे तारुण्य का नवोन्मेष; जिसमें वयोचित बाह्य रूप-रङ्ग की आलङ्कारिकता भी है। 'पल्लव' में प्रस्फुटित यौवन का अन्तर्बाह्य दृक्पात तथा भाषा और भाव का दृगोपम दीर्घ प्रसार। इन तीनों कृतियों में सुख-सुषमा की विह्वलता-चञ्चलता है, भावना की नई-नई आँखों की उत्सुकता एवं हृदय की रमणीयता है। 'गुञ्जन' में यौवन की पूर्णता तथा प्रौढ़ता का प्रारम्भ है। इसमें कवि ने सौन्दर्य्य और प्रेम के अतिरिक्त लोकजीवन के अन्तस्तल में भी अव-गाहन किया है और यहीं 'परिवर्त्तन' की भाँति वह चिन्तना-

शील भी हो गया है। यहीं भावुकता की पूर्वपरिचित सरलता सज्ञानता से जा मिली है। 'परिवर्त्तन' में तो कवि-हृदय की भावना प्रधान है, किन्तु 'गुञ्जन' में पूर्वजन्म के संस्कार की भाँति भावना यत्र-तत्र ही व्यक्त हुई है। 'गुञ्जन' की कई कविताओं में भावना और चिन्तना एक साथ सम्बद्ध है, इसी लिए उसका एक पक्ष हृदय को तृप्त करता है, दूसरा पक्ष मस्तिष्क को सुचिन्तित। जहाँ चिन्तना स्वयं भावना में लय हो गई है वहाँ पन्त के पूर्वकालिक कवि-हृदय का दिव्य वयाविकास दीख पड़ता है; जैसे 'एकतारा', 'नौका-विहार' इत्यादि में।

इसके अतिरिक्त, 'गुञ्जन' मे 'पल्लव'-जैसी पूर्ण भावनाशील कविताएँ भी हैं, यथा—'अप्सरा', 'चाँदनी'। ये दोनों तथा कुछ अन्य कविताएँ 'पल्लव' के बाद की हैं, 'भावी पत्नी के प्रति' इत्यादि कुछ कविताएँ 'पल्लव' के आस-पास की। 'पल्लव' के बाद 'गुञ्जन' की भावनाशील तथा चिन्तनाशील कविताएँ देखने से ज्ञात होता है कि पन्त के काव्य-जगत् में दो धाराओं का सन्निवेश हो गया है—एक में उनके कवि-हृदय का स्पन्दन है, दूसरी में विश्वजीवन की धड़कन। हाल की कविताओं मे विश्व-चिन्तन ने उनके कवि-हृदय पर प्रधानता प्राप्त कर ली है। उनमें शब्द कवि के है, विचार तत्त्व-चिन्तक के। पन्त की कविताओं में पहले उनके कवित्व ने विकास पाया, अब कवित्व के भीतर अन्तर्हित उनका व्यक्तित्व ही

एकाकी अपनी प्रगति सूचित कर रहा है; उनका कलाकार लोकसंग्रही होता जा रहा है। 'पल्लव' की भावुकता में कवि 'आत्म'-दर्शन करता था और 'गुञ्जन' तथा उसके पश्चात् की चिन्तनामय कविताओं में वह 'जग दर्शन' कर रहा है। 'एकतारा' में उन्होंने मानों अपने इसी क्रमिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति की है—"वह आत्म और यह जग-दर्शन"।

'वीणा' में पन्त की वे छोटी-छोटी काव्य-फुहियाँ हैं, जो एक दिन उनके किशोर-हृदय के दूर्वादल पर बरस पड़ी थीं और जिनसे सिञ्चित-पुष्पित हो, उनकी यौवनमयी प्रतिभा की लतिका ने अपने हरित वितान से हिन्दी-कविता के मण्डप को आज आच्छादित किया है। उन फुहियों में मन्द-मन्द सङ्गीत है, सघन झनकार नहीं। कहीं-कहीं नव-विहग की भाँति भावों के उच्चाकाश तक उठ पड़ने का प्रयत्न है। भावी प्रतिभा की अन्तर्हित स्फूर्ति ने इस प्रयत्न में सहायता प्रदान की है। 'प्रथमरश्मि का आना तूने रङ्गिणि! कैसे पहिचाना"—में पन्त के किशोर-वय का उच्चतम सङ्गीत है, जिसमें 'पल्लव' की विकसित कला का एक किरण-तार है।

'ग्रन्थि' में अलङ्कृत चित्रों का जमघट है। वह उन्नीस वर्ष के कवि-हृदय की चित्रानुरागिता और अलङ्करण-प्रियता की रङ्गीन सृष्टि है। 'वीणा' की कविताओं में एक हलका-सा स्पन्दन है, 'ग्रन्थि' की पंक्तियों में हृदय का आलोड़न है; एक में

नक्षत्रों की सी क्षीण झलक है, दूसरे में स्थूल लहर का अरुण-बिम्बित मन्थर चलचित्र। 'वीणा' में अँगरेजी काव्य-कला का संयोग है, 'ग्रन्थि' मे प्राचीन संस्कृत-काव्य-कला का। इन्हीं दोनों के एकत्र समावेश से पन्त की प्रतिभा का सम्यक् प्रस्फुरण हुआ है।

वास्तविकता से अवगत होते हुए भी सौन्दर्य्यशील प्राणी जिस प्रकार शूल को भी फूल का ही परिधान दे देता है, उसी प्रकार कदाचित् पन्त ने छोटी-मोटी त्रुटियों को जानकर भी 'वीणा' और 'ग्रन्थि' में उन्हें कवित्व-सुषम रहने दिया है।

'ग्रन्थि' के बाद 'उच्छ्वास' और 'आँसू' पन्त की प्रेम-कविताएँ है। इन दोनों कविताओं में यदि लोल-भावनाओं का भग्न चञ्चल आवेग है तो 'ग्रन्थि' मे हृदय की सचित्र-मार्मिकता है। उसमे ऐसा जान पड़ता है कि प्रकृति की किसी सजल-सघन तलहटी में, आहत हृदय, सौन्दर्य्य और प्रणय से अभिभूत वनबाला शकुन्तला की भाँति स्मृति-भाराक्रान्त है। 'ग्रन्थि' में, उसके अतुकान्त होने के कारण, सङ्गीत की विविधता नहीं किन्तु खण्डकाव्य की एक नूतन अभिव्यक्ति है।

'पल्लव' की कविताओं में 'मोह', 'विनय', 'वसन्तश्री', 'याचना', 'विश्वछवि', 'स्मृति', 'जीवन-यान', 'छाया-काल' पन्त के नन्हे-नन्हे हृदय-बिन्दु है, जो मुक्तक की एक-एक मुक्ता के समान हैं; उनमें पल-भर के पलक-चिन्तन हैं। 'विसर्जन', 'विश्वव्याप्ति', 'स्याही का बूँद', 'सोने का गान', 'नारी-

रूप', 'निर्झर-गान', 'मुसकान', 'मधुकरी', 'निर्झरी'—इन कविताओं में सौन्दर्य्यमुग्ध हृदय का सचित्र सङ्गीत है; स्वर में चित्र, चित्र में स्वर है। 'बालापन', 'स्वप्न', 'छाया', 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल', 'नक्षत्र', 'विश्ववेणु', 'वीचि-विलास', 'अनङ्ग', 'शिशु', 'मौन-निमन्त्रण', 'परिवर्त्तन', 'पल्लव' शीर्षक कविताएँ कवि की विशद भावनाशीलता और चित्र-शिल्पिता की द्योतक हैं। इनमें 'वीचि-विलास' अपनी एकच्छत्र कोमलता के लिए; 'बाला-पन' अपनी सरलता के लिए; 'छाया' तथा 'गुञ्जन' की 'अप्सरा' और 'चाँदनी' अपनी प्रचुर सूक्ष्मतम कल्पनाशीलता के लिए; 'उच्छ्वास', 'आँसू' और 'परिवर्त्तन' भावनाओं के बहुविध उत्थान-पतन के लिए; 'पल्लव' में 'मौन-निमन्त्रण' तथा 'वीणा' में 'प्रथम-रश्मि' और 'गुञ्जन' में 'फूला का हास', 'मुसकुरा दी थी क्या तुम प्राण', 'आज रहने दो गृह-काज', 'भावी पत्नी' इत्यादि कविताएँ भावों की प्रतिध्वनित टेक के लिए; 'पल्लव' का 'नक्षत्र' नक्षत्रोपम विकीर्ण उडुगण की साकारता के लिए; 'गुञ्जन' की 'एकतारा' और 'नौका विहार' निबन्धात्मक चित्र-चारुता के लिए विशेष द्रष्टव्य है।

पन्त की सम्पूर्ण कोमलकान्त कृतियों का निष्कर्ष है—

क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता, मोद, मधुरिमा, हास, विलास;
लीला, विस्मय, अस्फुटता, भय, स्नेह, पुलक, सुख, सरल-हुलास।

—'वसन्त-श्री'

सौन्दर्य्य के काश्मीर और प्रेम के अनिर्वचनीय नन्दनवन की पन्त की भावनाओं में एक मनोज्ञ झाँकी है। किन्तु 'गुञ्जन' में, इसके अतिरिक्त, अन्तर्दर्शन की जिज्ञासा भी--

"क्या मेरी आत्मा का चिर-धन ?
मैं रहता नित उन्मन-उन्मन !"

इस अन्तर्जिज्ञासा ने कवि के हृदय में लीलामय-जीवन के प्रति बुद्ध की विरक्ति नहीं, बल्कि एक विश्वासपूर्ण अनुरक्ति उत्पन्न की है; उसी के शब्द--

क्या यह जीवन ? सागर में
जल-भार मुखर भर देना।
कुसुमित-पुलिनों की क्रीड़ा--
व्रीड़ा से तनिक न लेना ?

--'गुञ्जन', पृ० ६

× × × ×

सुनता हूँ, इस निस्तल जल में
रहती मछली मोतीवाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल-माली।

आयेगी मेरे पुलिनों पर
वह मोती की मछली सुन्दर,

मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूँगा उसकी छबि जी-भर।

—'गुञ्जन', पृ० ६३

इन पंक्तियों में भी 'गुञ्जन' का कवि, 'पल्लव' की भाँति ही जीवन को पूर्ववत् हास-हुलास-मय देखना चाहता है। किन्तु उसके मधुर-मलय-पुलकित जीवन ने निदाघ-सन्तप्त समीर का भी स्पर्श पा लिया है, इसी लिए 'गुञ्जन' की कविताओं के स्नेह-केश में सौन्दर्य्य-सुरभित और प्रणय-मधुरित कलित कुसुम ही गुम्फित नहीं हुए, बल्कि पलकों में विश्ववेदना के कुछ तुहिन-बिन्दु भी उमड़ पड़े; यथा—श्याम के सच्चिदानन्द-पद्म-स्वरूप में बुद्ध की करुणा का सजल प्रतिबिम्ब पड़ गया हो।

'गुञ्जन' की चिन्तना-प्रधान पंक्तियों द्वारा, कवित्व का शिशु-सुलभ सुहावना भोलापन, प्रज्ञा के चरणों में लव-कुश की भाँति प्रणत हो गया है; वह अपनी लघिमा के देव-दुर्लभ सौन्दर्य्य में चिरअनजान नहीं रह सका। इधर कविता के अन्तर्जगत् से पन्त जी अब वास्तविकता के प्रत्यक्ष जगत् में कथा-साहित्य-द्वारा प्रवेश कर रहे हैं, कवित्व एक पूर्व सहचर के रूप में उनके साथ है। 'गुञ्जन' के बाद पन्त की प्रकाशित कविता-पुस्तकों के नाम ये हैं 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या'। 'युगान्त' से पन्त के काव्य-साहित्य का नया अध्याय प्रारम्भ होता है। आज वे प्रगतिशील कवि हैं। छायावाद में मिस्टिक

आइडियलिज़्म था, पन्त की प्रगतिशीलता में रियलिस्टिक आइडियलिज़्म है। पहिले वे भाव-जगत् के स्वप्नद्रष्टा थे, अब अभाव-जगत् के स्वप्नद्रष्टा है। 'गुञ्जन', 'ज्योत्स्ना', 'पांच कहानियाँ' ये मानो इस नये काव्य-साहित्य की पूर्व भूमिका है।

वर्म्मा-त्रय—वर्म्मा-त्रय (सर्वश्री महादेवी, रामकुमार, भगवतीचरण)—ने अपनी त्रिविध रचनाओं से हिन्दी-काव्याकाश मे एक पावस की सृष्टि कर दी है। इनमे सबसे अधिक ज्वाला श्री भगवतीचरण की कविताओं में है, सबसे अधिक उच्छ्वास श्री महादेवी की कविताओं में, सबसे अधिक निराश आँसू श्री रामकुमार की कविताओं में। भगवतीचरण की रचनाओं मे तड़ित्-तीक्ष्णता है, महादेवी की रचनाओं में मन्द्र जलद-क्रन्दन, रामकुमार की रचनाओं में सलिल-बिन्दुओं की लघु-लघु फुहर। जीवन की नश्वरता के प्रति तीनों कवियों की रुझान है।

भगवतीचरण वर्म्मा—भगवतीचरण जी के नश्वरता-चिन्तन में अतृप्ति का आक्रोश है, यथा—

> इस विनाश के मरुप्रदेश का
> दे सकती हो मोल ?
> अरी बावली, सोच-समझकर
> अपनी बोली बोल !
>
> —'मधुकण'

× × ×

लेकर अतृप्त तृष्णा को
आया हूँ मैं दीवाना,
सीखा ही नहीं यहाँ है
थक जाना या झुक जाना।

—'मधुकण'

× × ×

यहाँ प्रतिपल, प्रतिदिन, प्रतिबार
बहा करती है तप्त बयार।

—'मधुकण'

× × ×

रूप-राशि पर भूल न जाना
रूप-राशि है हार।

यह अतृप्ति तथा चार दिन की गर्वीली चाँदनी के नश्वर अभिमान के प्रति यह आक्रोश, भगवतीचरण जी की कविताओं द्वारा, जीवन-कानन में मानो दावानल की भाँति दहक उठता है, जिसके कारण पाठकों का हृदय किसी शून्य सन्तप्त मरुस्थल की भाँति संत्रस्त हो उठता है। उनकी कविता एक ऐसी रौद्र भारती के रूप में उपस्थित होती है जिसे भाव-चित्रों से अनुराग नहीं, बल्कि वह अपने अमूर्त्त भैरवी हुंकारों से ही दिग्दिगन्त को प्रतिध्वनित कर देना चाहती है। 'नूरजहाँ' में कहीं-कहीं एकाध तद्भव भाव-चित्र भी हैं, जो अमूर्त्त उद्गारों की भाँति ही हैं। यथा—

"अरुण कपोलो में रस था
अधरों में कोमल बोल।"
"हँसी बन गई पलक में आह।"
"तुम रोईं थीं, भाग्य हँसा था,
था अद्भुत व्यवहार।"

उनकी कविताओं में प्रायः भयानक रस की प्रधानता होने के कारण, उनके शृङ्गार रस में सुकोमल उषः-माधुर्य्य का आधिक्य नहीं, बल्कि अशान्त दिवस का मध्याह्न-प्रखर उत्ताप है। उनकी कविताओं में भाषा का उद्बुद्ध आवेग सर्वोपरि है। उर्दू की रवानगी और बयानगी इनकी कविताओं की सजीवता है। गद्य-क्षेत्र मे श्री चतुरसेन शास्त्री के लेखों में जो आवेग है, वही पद्य-क्षेत्र में श्री भगवतीचरण की कविताओं मे। 'नूरजहाँ' आपकी मास्टरपीस कविता है। आपकी कविताओं में सुन्दर नैबन्धिक गठन रहता है। वाग्वैचित्र्य आपकी कविता की खासियत है।

रामकुमार वर्म्मा—कुमार की मुक्तक कविताओं के संग्रह ये हैं—'अञ्जलि', 'रूपराशि', 'चित्ररेखा' और 'चन्द्रकिरण'।

'अञ्जलि' मे कुमार की नववयस्क भावुकता का उफान है, जिसके आवेग से उसमे सङ्गीत का प्रवाह है। प्रत्येक नव-युवक का एक मानसो संसार होता है—अपार्थिव नहीं, बल्कि पार्थिव जगत् से ही उद्भूत, जिसके कारण शुष्क वास्तविक संसार में रहते हुए भी उसके सम्पूर्ण सुख-दुःख

भाव-मय ही हो जाते हैं। 'अञ्जलि' की कविताएँ ऐसी ही भावात्मक हैं।

'रूपराशि' में उस तरुण-हृदय के उद्गार हैं, जो प्रथम वय के भावमय जगत् को छोड़कर वस्तु-जगत् का स्पर्श पा गया हो और इसी वस्तु-जगत् (इन्द्रिय-जगत्) में रहते हुए पुनः अपने विगत-भावमय जगत् से सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न करता हो। वह मानो एक वयःसुलभ कवि के बिदा होने पर फिर से उस कवि को लौटा लाना चाहता हो। इसी कारण 'रूपराशि' मे कुमार का कवि अधिकांशतः अन्यमनस्क और शिथिल है।

पूर्व-निर्देशानुसार, भावुक नवयुवक-हृदय जिस प्रकार इस पार्थिव जगत् में एक अपने भी पार्थिव जगत् की सृष्टि करता है, उसी प्रकार उसके विफल होने पर वह एक ऐसे अपार्थिव संसार की भी उद्भावना करता है जहाँ वह अपने प्रत्यक्ष पार्थिव अस्तित्व के लिए शान्ति और समझौता चाहता है। 'चित्ररेखा' में ऐसे ही अपार्थिव संसार के भाव है। 'अञ्जलि' के बाद 'चित्ररेखा' में कुमार का कवि पुनः जाग्रत् हुआ है। बीच मे कुमार के किंकर्त्तव्य-विमूढ़ कवि ने कठोर पार्थिव जगत् के सम्पर्क मे आकर प्रबन्ध-काव्यों में अपने लिए भावाधार पाया। 'निशीथ', 'अभिशाप', 'शुजा' इसी अवसर की सुन्दर रचनाएँ है।

रामकुमार जी के जीवनगत दृष्टिकोण तथा उनके उन्नत कवित्व की सूचक ये रचनाएँ हैं—'निशीथ,' 'अभिशाप,' शुजा'

और 'चित्ररेखा'। इन कृतियों से ज्ञात होता है कि जीवन की करुण अभिव्यक्ति की ओर उनका झुकाव अधिक है। उनकी कृतियों में शृङ्गार रस भी है, किन्तु वह प्राय: करुण रस का एक माध्यम-सा है। 'चित्ररेखा' के इस गीत में यह माध्यम अधिक स्पष्ट है—

यह नव बाला है, नारि-वेष—
रखकर आया है क्या वसन्त ?
जिसकी चितवन से पञ्चबाण
निकला करते हैं बन अनन्त,
जिसकी करुणा की दृष्टि विश्व
सञ्चालित कर देती तुरन्त ;
उसके जीवन का एक बार
के क्षुद्रप्रणय में व्यथित अन्त !
यह छल है, निश्चय छल ही है, मैं कैसे समझूँ इसे आह
मैं भूल गया यह कठिन राह।

उनका शृङ्गार मधु-मधुर नहीं, बल्कि अश्रु-सजल है। करुण रस में ही उनके हृदय ने विश्राम पाया है। उनकी कवि-दृष्टि से यह सम्पूर्ण सृष्टि-विस्तार पीड़ा और क्रन्दन में ही अपना अस्तित्व बनाये हुए है—

वारिधि के मुख में रखी हुई
यह लघु पृथ्वी है एक ग्रास,
जिसमें रोदन है कभी, या कि
रोदन के स्वर में अट्टहास।

और इसी कारण उन्हें जान पड़ता है—

'जीवन है करुणामय प्रवास।'

जो करुणा सहृदयों का स्वाभाविक मनुष्यत्व है, वही करुणा निर्दय हृदयों की एक अनजान सुन्दर भूल हो सकती है। वह मानो कठोर पिता की गोद में एक शिशु बालिका की भाँति है, अथवा पाषाण-हृदय में किसी झिरझिरी की भाँति। 'शुजा' की निम्न पंक्तियों में कुमार ने करुणा के इसी सरल अस्तित्व का कितना मार्म्मिक निर्देश किया है। चक्रवर्तित्व के व्याघ्र-लोभ से पाशवबुद्धि होकर वज्रकठोर औरङ्गज़ेब ने अपने सहोदर भाई दारा का रक्ताक्त सिर कटवा मँगाया था। किन्तु सहोदरपन के कारण—

वह शीश देख औरङ्गज़ेब—
हँसकर रोया था बहुत देर,
मानो निर्दयता ने स-भूल,
थोड़ी-सी करुणा दी बिखेर।

इस 'स-भूल' शब्द की व्यञ्जना से करुणा करुणतम हो गई है।

यत्र-तत्र कुमार की शृङ्गार रस की पंक्तियों में एक तीव्र किन्तु असमर्थ तृष्णा है। उसकी विफलता ही उन्हें यह कहने के लिए बाध्य करती है—

क्या शरीर है? शुष्क धूल का—
थोड़ा-सा छबि-जाल। —'अभिशाप'

रामकुमार का यह सौन्दर्य विराग उनके कवि को बुद्धिस्ट अवश्य बना देता है, किन्तु साधक नहीं; इसी लिए वे अपने भावों में अशान्त हैं। वह विराग केवल एक आपद्धर्म मात्र है, अतएव करुण-रस-प्रधान होते हुए भी बीच-बीच में श्रृङ्गार रस किसी वञ्चित ऐश्वर्य्य की भाँति उनके कवि को चञ्चल कर देता है।

उनका श्रृङ्गार मानवी शोभा-विलास के रूप में नहीं, बल्कि सौन्दर्य्य के प्रकृति-चित्र में सरस बन पड़ा है, यथा —

यह तुम्हारा हास आया,
इन फटे-से बादलों में—
कौन-सा मधुमास आया ?
—'चित्ररेखा'

प्रकृति से जीवन का रस ग्रहण करने में वे एक छायावादी हैं; जीवन की नश्वरता से आत्मशान्ति का भाव ढूँढ़ने में रहस्यवादी।

उनकी भाषा में प्रवाह है, यद्यपि कहीं-कहीं वह शिथिल भी हो गई है, किन्तु उसमें ऊबड़-खाबड़पन नहीं। हाँ, भाषा खास तौर से बनाई हुई जान पड़ती है, कहीं-कहीं अलङ्कारों की तरह उनके शब्द भी परम्परा की पूर्त्ति करते हैं। सु-समीर, सु-राग सु-प्रवाह, सु-पवन जैसे प्रयोग इस बात के सूचक हैं। उनकी भाषा गणित-मय है, जिसके द्वारा भावों को युक्तियुक्त बनाने

का प्रयत्न लक्षित होता है। उनकी कविताओं में अभिनयात्मक व्यञ्जना बहुत है, जो उनके कवित्व की खास विशेषता है।

कतिपय प्रबन्ध-काव्य—'वीर हमीर' कुमार की बाल्य-कृति है; 'चित्तौड़ की चिता' किशोर-कृति; 'निशीथ' तरुण-कृति। वयःक्रम से इन प्रबन्ध-कृतियों में रचना का क्रमिक विकास है। खड़ी बोली में प्रबन्ध-काव्य के लिए आदरणीय गुप्त जी ही प्रथम आदर्श कवि हैं। 'वीर हमीर' में 'कुमार' ने उन्हीं का अनुगमन किया है। गुप्त जी के मास्टरपीस छन्द हरिगीतिका के बजाय इसमें गीतिका का उपयोग किया गया है। हमीर में ओज है, किन्तु कवित्व नहीं। इस प्रकार की प्रबन्ध-कविता में कवित्व के लिए भाव ही नहीं, बल्कि एक मार्मिक स्वाभाविकता भी चाहिए। गुप्त जी की सीधी-सादी पंक्तियों में स्वाभाविकता उनकी एक ऐसी विशेषता है जो हृदय को कुरेद देती है। यह स्वाभाविकता देश-विशेष की भौगोलिक संस्कृति के अनुरूप रह-कर ही मार्मिक हो सकती है—क्योंकि उसका सम्बन्ध हमारे आसपास के दैनिक शब्दों और बातचीत के निजी आवेगों से है। शब्दों और वाग्यावेगों में से यदि हम अपनी जातीयता हटा-कर उन्हें किसी विदेशी भाषा में अनूदित कर दें तो भाव रहते हुए भी उनमें भावों की अपनी भाषा नहीं रह जायगी। भाषा की यह स्वाभाविकता ऐसे प्रबन्ध-काव्य के लिए, जो साङ्केतिक नहीं बल्कि इतिवृत्तात्मक है, अनिवार्य्य है। साङ्केतिक काव्य

में भाषा का सीधा सम्बन्ध केवल भाव से रहता है और भाव का सम्बन्ध सङ्गीत और रस से। किन्तु इतिवृत्तात्मक प्रबन्ध काव्य में हमें भाषा द्वारा एक समाज किंवा एक संस्कृति को प्रत्यक्ष करना पड़ता है. और यह समीर की भाँति साँस-साँस में मिले हुए स्वाभाविक शब्दों और वाक्य-प्रवाहों द्वारा ही सम्भव है। गुप्त जी की लोकप्रियता का कारण यही अपने यहाँ की सांस्कृतिक स्वाभाविकता है। इस स्वाभाविकता के अन्तर्गत दैनिक जीवन की नाटकीयता, औपन्यासिकता तथा भावुकता, इन तीनों का समावेश है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन इन त्रिविध उपकरणों से विनिर्मित है। इतिवृत्तात्मक प्रबन्ध-काव्य में हम इन्हीं उपकरणों-द्वारा मनुष्य को अधिक निकट से पहचानने लगते हैं। गुप्त जी का अनुगमन कर जो प्रबन्ध-काव्य खड़ी बोली में लिखे गये, वे केवल छन्दोबद्ध कथाओं और विचारों के अभिव्यक्तीकरण मात्र होने के कारण गुप्त जी की कृतियों-जैसे उत्कृष्ट न हो सके।

'वीर हम्मीर' की अपेक्षा 'चित्तौड़ की चिता' में कुमार का कवित्व अधिक है। उसमे केवल कथा और विचार नहीं, भाव भी हैं। किन्तु वह जितना कवित्व-पूर्ण है, प्रबन्ध काव्य के अन्य उपकरणों के अभाव में उतना प्राण-मय नहीं।

प्रबन्ध-काव्य के उक्त तीन उपकरणों में से केवल भावुकता हृदय की वस्तु है। यह संसार की नहीं, कवि की अपनी

दुनिया की परिचायिका है। साङ्केतिक कविताओं मे इसी की प्रधानता रहती है। इस भावुकता की भिन्न भाषा, भिन्न शैली और भिन्न सङ्गीत है। केवल लौकिक भाषा से परिचित जन उस दुनिया से, एक विदेशो को भाँति, अनभिज्ञ रह जाते हैं। सांकेतिक कवि इस प्रत्यक्ष जगत् की मेहराबो के ऊपर जिस मनोभवन का निर्म्माण करता है, वहाँ तक पहुँचना मीरा की 'सूली के ऊपर बिछी हुई पिया की सेज' तक पहुँचने से कम दुःसाध्य नहीं है। उसे तो कवि अपना लौकिक बलिदान कर लोकोत्तर कुसुमो से सुसज्जित करता है। लोकोत्तर भाव आकाश-कुसुम हो सकते हैं, किन्तु सुदूर नक्षत्रो की भाँति ही कवि की दुनिया में उनका भी एक अस्तित्व है। इस सुदूरवासिनी, किन्तु कवि-हृदय की निकटवर्त्तिनी भावुकता ने काव्य-जगत् में छायावाद और रहस्यवाद को जन्म दिया है।

खड़ी बोली मे अब तक मुक्तक कविताओं को ही छायावाद की शैली प्राप्त हुई थी, किन्तु अब प्रबन्ध-काव्यो में भी उसने अपना स्थान बनाया है। 'प्रसाद' का 'प्रेम-पथिक' और 'कामायनी', पन्त जी का 'उच्छ्वास' और 'ग्रन्थि', निराला जी का 'तुलसीदास' तथा राजकुमार जी का 'निशीथ', छायावाद के प्रबन्ध-काव्य हैं। ऐसे प्रबन्ध-काव्यो में कहानी भावो की माला के बीच सूत्रवत् रहती है। चरित्र-चित्रण तथा घटनाओं का आरोहण-अवरोहण गौण रहता है। चरित्र

की अपेक्षा चित्र, घटना की अपेक्षा हृदयावेग की प्रधानता रहती है। दूसरे शब्दों में प्रबन्ध-काव्य की त्रिवेणी—(उपन्यास-कला, नाट्यकला, काव्य-कला)—में औपन्यासिकता सरस्वती की भाँति विलीन रहती है। कविता द्वारा भाव, चित्र और संगीत, तथा नाटकीय भाव-भंगी द्वारा हृदयावेगों का आलोड़न-विलोड़न ग्रहण कर ऐसे प्रबन्ध-काव्य अपने को सजीव करते है। सांकेतिक प्रबन्ध-काव्य और इतिवृत्तात्मक प्रबन्धकाव्य में काव्यकला के शेष उपकरण (शब्द, छन्द, संगीत) एक-से ही विचारणीय है।

इन दोनों शैलियों के बीच प्रबन्ध-काव्य की एक अपर शैली भी है, जैसे उपाध्याय जी के 'प्रिय-प्रवास' मे। 'प्रिय-प्रवास' न तो पूर्णतः सांकेतिक काव्य है और न पूर्णत: इतिवृत्तात्मक। सांकेतिक काव्य का एक गुण (भावापन्नता) तथा इतिवृतात्मक काव्य का एक गुण (चरित्र-निरूपण) लेकर इसकी सृष्टि हुई है। चरित्र और चित्र, मनुष्य और प्रकृति, इन्हीं दो डोरियों पर यह प्रबन्ध-काव्य अपनी झाँकी दे रहा है।

खण्डकाव्यो के प्रसङ्ग में त्रिपाठी जी के प्रबन्ध-कृतित्व का उल्लेख पहले हो चुका है। उनके खण्डकाव्य विचारात्मक कहानी हैं। इस कहानी में घटना-मूलक गल्प-कला का परिचय मिलता है, जो प्रेमचन्द की कथा-शैली से मिलती-जुलती है। यत्र-तत्र चित्र और भाव उनकी कहानी को कवित्व-मनोरम

बनाये हुए हैं; किन्तु प्रधानतः प्रेमचन्द की भाँति ही कहानी के रूप में एक आदर्शपूर्ण सामयिक विचार उपस्थित करना उनका लक्ष्य जान पड़ता है। इस प्रकार के साहित्यकार काव्य-कला को ललित कला के अन्तर्गत न लेकर उपयोगी कला के रूप मे ग्रहण करते है। कला में उपयोगिता, साहित्य का एक उत्तम दृष्टिकोण है, किन्तु साथ ही हम ललित कला की भी उपेक्षा नहीं कर सकते। मानव-समाज का सबसे बड़ा उपयोगी कलाकार कृषक है, किन्तु वह भी जीवन की कठोर एवं सन्तप्त वास्तविकता की पूर्त्ति के लिए सर्वत्र सस्यारोपण ही नहीं करता, बल्कि फूलों की स्वर्गीय् वाटिका भी लगाता है; यही उसकी ललित कला है। कृषक-रूप कवि की उपयोगी कला से यदि हमें पार्थिव साहाय्य प्राप्त होता है तो उसकी ललित कला से मानसिक स्वास्थ्य।

हिन्दी-साहित्य मे एक ही महाकाव्य ऐसा है जिसमे काव्य-गत ललित कला और उपयोगी कला का बृहत् संयोजन है और वह है गोस्वामी जी का 'रामचरित-मानस'। अपनी उप-योगिता के कारण वह सर्व-साधारण का धार्म्मिक ग्रन्थ है, अपनी कविता के कारण वह सम्पूर्ण सहृदयो का साहित्यिक काव्य है। हमारे साहित्य मे वह प्रबन्ध-काव्य का परिपूर्ण आदर्श है। खड़ी बोली की वर्तमान कविता मे गुप्त जी ने उसी आदर्श का अनुसरण किया है। 'साकेत' और 'यशोधरा' उनके

श्रेष्ठतम प्रबन्धकाव्य है। इधर 'द्वापर' और 'सिद्धराज' उनके दो नये प्रबन्ध-काव्य प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने अपने प्रत्येक प्रबन्ध-काव्य में रचना-शैली की विभिन्न नूतनता उपस्थित की है।

हाँ, तो छायावाद-स्कूल ललित कला की ओर ही अधिक उन्मुख है। अभी तक इसका कोई विशद प्रबन्ध-काव्य हमारे सम्मुख नहीं था। यह प्रसन्नता की बात है कि अब 'प्रसाद'जी की 'कामायनी' प्रकाशित हो गई है जिसके द्वारा उनके जीवन और काव्य ने एक पौराणिक आइडियलिज्म में अपनी अन्तिम परिणति ली है। इसके पूर्व रामकुमार जी का 'निशीथ' हमारे सम्मुख है। छायावाद-स्कूल का यह पहला प्रबन्ध-काव्य है, जो शास्त्रानुकूल नियमित सर्गों में निबद्ध है। यह पूर्णतः भावमय काव्य है। कहानी और चरित्र चित्रण इसका लक्ष्य नहीं, हृदय-चित्रण और रसोद्रेक इसका ध्येय है। इसी लिए हम इसमें यत्किञ्चित् नाट्य-कला तथा अधिकांशतः काव्य-कला का समावेश पाते हैं। भाव ही इसकी कहानी की सृष्टि करते हैं और वह कहानी भाव की तरह ही साङ्केतिक और हृदय-संवेद्य है। भावाच्छन्नता के कारण अवश्य ही कहानी धूमिल पड़ गई है, किन्तु यह तो भावों का खण्डकाव्य है, कथा का नहीं।

'निशीथ' का अन्त करुण और मर्मस्पर्शी है। भाषा भावुकतापूर्ण है, जो कि इस प्रकार की कविताओं के लिए स्वाभाविक है। यद्यपि भावाभिव्यक्ति कहीं-कहीं चित्रालङ्कार

के मोह में विश्री हो गई है, किन्तु 'निशीथ' का पद-प्रवाह पाठकों के मन को कहीं रुकने नहीं देता।

'निशीथ' के अतिरिक्त, 'रूपराशि' में 'शुजा'. कुमार की छोटी-सी किन्तु सफल-प्रबन्ध-कृति है और सम्भवतः उनकी प्रबन्ध-कृतियों में सर्वश्रेष्ठ है। उसमें इतिहास का शुष्क कथानक कवित्व की सजलता से जीवन पा गया है। कथा-शरीर अतीत है, किन्तु चेतना शरीरातीत होकर जीवित है। 'शुजा' का नैबन्धिक गठन साद्यन्त रुचिर और मार्मिक है। छोटे-से छन्द का चुनाव इस करुण वृत्त के अनुरूप है। इतिहास की यह स्मृति-क्षीण कथा कवि के इतने निकट आ गई है, मानो वह 'आप-बीती' हो और कवि उसमें निमग्न होकर व्यथा की दुर्वह साँसों से किसी अस्तमित सन्ध्या की करुणा-पूर्ण उदासी जगा देना चाहता है।

नवयुवकों की दृष्टि धीरे-धीरे प्रबन्ध-काव्य की ओर उन्मुख हो रही है। हाल में प्रकाशित ठाकुर गुरुभक्तसिंह का 'नूरजहाँ' नामक प्रबन्ध-काव्य ठेठ भावुकता का एक बृहत् रूप है। प्रकृति का यथावत् निरूपण इस प्रबन्ध-काव्य का प्रमुख कवित्व है। इस प्रकृति-निरूपण में चित्रकला की रञ्जकता का नहीं, बल्कि मूर्त्तिकला की खालिस मूर्त्तिमत्ता का ही परिचय मिलता है।

बहुत पहले श्री बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन' ने भी "विस्मृता उर्म्मिला" नामक एक प्रबन्ध-काव्य लिखना प्रारम्भ किया था,

जो अब पूर्ण हो गया है; किन्तु प्रकाश्य रूप में हमारे सम्मुख नहीं। इधर 'निराला' जी का 'तुलसीदास' प्रकाशित हो गया है। इसमें हम छायावाद का रोमैन्टिक क्लासिसिज़्म देख सकते हैं। 'कामायनी' मे 'प्रसाद' जी पुराकाल में गये, 'तुलसीदास' मे निराला जी मध्यकाल में। छायावाद जिस पुरातन संस्कृति की देन है उसे देखते द्विवेदी-युग की भाँति उसका भी अतीत की ओर जाना आश्चर्यजनक नहीं जान पड़ता।

महादेवी वर्म्मा—सुश्री महादेवी वर्म्मा के कवि-हृदय ने नश्वरता मे ही जीवन का सौन्दर्य्य और माधुर्य्य पाया है। उसकी दृष्टि में, प्रत्येक नश्वरता अनन्त जीवन का उपक्रम है—

सृष्टि का है यह अमिट विधान,
एक मिटने में सौ वरदान,
नष्ट कब अणु का हुआ प्रयास,
विफलता में है पूर्त्ति-विकास।

('रश्मि', पृ० २६)

× × ×

बिखर कर कन-कन के लघु प्राण
गुनगुनाते रहते यह तान—
"अमरता है जीवन का ह्रास,
मृत्यु जीवन का चरम विकास।"

('रश्मि', पृ० २५)

× × ×

आदि में छिप आता अवसान
अन्त में बनता नव्य विधान;
सूत्र ही है क्या यह संसार
गुँथे जिसमें सुखदुख-जयहार ?

('रश्मि', पृ० ८)

विश्व की नश्वर-पार्थिवता ने उस अविनश्वर (अनन्त) के लीलामय चरणों के प्रति लोक-जीवन में एक विरह की सृष्टि कर दी है, मानो प्रत्येक की आत्मा इन्दु-कला के रूप में भूतल पर बिछुड़ पड़ी हो और वह स्मरण करती हो—

"कहाँ से आई हूँ कुछ भूल"—('रश्मि', पृ० ६६)

इस बिछुड़ पड़ने के कारण ही प्रत्येक का जीवन सम्पूर्णतः विरह-मय हो गया है, कवि के शब्दों में—

विरह का जलजात जीवन।
विरह का जलजात
वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास;
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात;
जीवन विरह का जलजात।

—('नीरजा', पृ० १८)

× × ×

जन्म ही जिसको हुआ वियोग
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास—('रश्मि', पृ० ४४)

इसी लिए, काल और सीमा के पार्थिव-बन्धनों में आबद्ध चेतना, पूर्ण निमु क्त चेतन के प्रति माधुर्य्य भाव से अपने को निवेदित करती रहती है। किन्तु वह इस सगुण जीवन के बन्धनों की परवश-बन्दिनी नहीं, बल्कि स्वामिनी है,—

"बन्दिनी बनकर हुई मैं
बन्धनों की स्वामिनी-सी !"

इस प्रकार उसका सगुण (बन्धन-मय) जीवन स्वेच्छा से प्राप्त और स्वान्तःसुखाय है। निगु ण यदि उसका अभीष्ट है, तो सगुण जीवन उसके अभीष्ट की एक सिद्धि—

दूर है अपना लक्ष्य महान
एक जीवन पग एक समान;
अलक्षित परिवर्त्तन की डोर
खींचती हमें इष्ट की ओर।—('रश्मि', पृ० २५)

नश्वर पार्थिवता के प्रति कवि का विराग नहीं, क्योंकि इसी के कारण उसे जीवन के अनन्त सौन्दर्य्य तथा वेदना के असीम माधुर्य्य की भावानुभूति उपलब्ध होती है, इसी लिए उसका निवेदन है—

है पीड़ा की सीमा यह
दुख का चिरसुख हो जाना।

मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कण भर;
रहने दो प्यासी आँखें
भरती आँसू के सागर।

तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख के अवगुण्ठन से;
मैं तुम्हें ढूँढ़ने के मिस
परिचित हो लूँ कण-कण से।

—('रश्मि', पृ० १४)

लघुता, नश्वरता, करुणा, वेदना—ये महादेवी की कविता के गौरवमय उपादान हैं, इन्हीं के चँदोवे में उन्होंने अपने भावुक प्राणों का सूक्ष्म वितान तानकर एक स्वप्न-जगत् की सृष्टि की है।

क्रमानुगत—'नीहार', 'रश्मि' और 'नीरजा', आपकी प्रकाशित कविता-पुस्तकें है। 'नीहार' में सूक्ष्म कल्पनाओं का आतिशय्य है; 'रश्मि' में भावनाओं की दार्शनिक गम्भीरता; 'नीरजा' में अलङ्करण-प्रियता एव प्रकृति-सौन्दर्य्य के प्रति विह्वलता। 'रश्मि' मे यद्यपि 'नीहार' का भाषा-आवेग नहीं और न 'नीरजा' की-सी सचित्रता है, तथापि उसमें उनका कवित्व अधिक गम्भीर एवं घनीभूत है। 'नीरजा' के बाद आपकी कविताओं का एक संग्रह 'सान्ध्यगीत' नाम से प्रकाशित हुआ। इधर आपकी

सम्पूर्ण कविता-पुस्तकों का एकत्र संग्रह 'यामा' नाम से प्रकाशित हुआ है।

इलाचन्द्र जोशी—श्री इलाचन्द्र जोशी सुकोमल प्रणय-कथाओं के कवि हैं। पर्वतीय कवियों में मधुरता और कोमलता की ओर अधिक रुझान दीख पड़ती है, इसका कारण वनलक्ष्मी के अञ्चल का सहज-सुलभ स्पर्श है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त की काव्य-कोमलता से श्री इलाचन्द्र की कविता की कोमलता भिन्न है। पन्त की कोमलता पूर्णत: काव्यमय होकर लतिकोपम मृदुल-मधुर हो गई है, श्री इलाचन्द्र की कविता ने वस्तु-जगत् का स्पर्श पाकर हरित नवजात तरु की-सी सुपरुप कोमलता पाई है। 'शकुन्तला', 'राजकुमार', 'मेरी तारा' इत्यादि उनकी काव्यमयी कहानियाँ हैं। 'विजनवती' नाम से आपकी कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ है। आपकी भाषा ललित है, पद-विन्यास प्रवाहपूर्ण। शब्दों में बँगला का आदान है। भावों में चित्रों और उद्गारों का प्राधान्य।

बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन'—नवीन जी उद्दाम पौरुष के कवि हैं, जिसमें कोमलता भी है और प्रचण्डता भी। वे अग्निकुमार भी हैं, फूलकुमार भी। वे कठिन-कोमल हैं। उनकी कोमल भावनाओं में सौन्दर्य्य की ललक-झलक है, प्रणय की कसक-मसक है। प्रचण्ड भावनाओं में होम-शिखा की लहक-दहक है, जो कहीं प्रणय के और कहीं राष्ट्रीयता के प्रज्वलित कुण्ड में यथाक्षणचमक-

दमक उठती है। दोनो प्रकार की भावनाओं में ओज है। उनका कर्त्तव्यशील कवि उद्बुद्ध होकर कहता है—

> धुँआ उठे, पाखण्ड जले, हिय खण्ड भुने, देखे त्रिपुरारी;
> अरी धधक उठ, धक धक कर तू महानाश की भट्ठी प्यारी।

अथवा—

> स्वर-सप्तक कुछ नहीं, ताल-यति-गति को भस्मीभूत किये,
> निपट अटपटी विकट तान से चिनगारियाँ प्रसूत किये।
> अरे चलाचल सर्वदहन का वैश्वानर सन्देश लिये,
> आज लुकाठी की वीणा लें, चल दाहक का वेश किये॥
> अग्निमयी ही नहीं, अनलसम्भूता हो वीणा तेरी,
> अरे क्रान्तिदर्शी उठ आये अग्निशिखा अब क्या देरी।

परन्तु अग्निवीणा का यही कवि अपने अनुराग के क्षणों में प्रणयी होकर कहता है—

> हम संक्रान्ति-काल के प्राणी बदा नहीं सुखभोग
> हमें क्या पता क्या होता है स्निग्ध सुखद संयोग ?
> फिर भी, हाँ हाँ, फिर भी दिल ही तो है यह अनजान
> बरबस तड़प-तड़प उट्ठा करता है यह नादान।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवीन का कवि जिस पथ का पथिक है, उसकी एक ओर कर्त्तव्य-चिन्ता का ज्वालामुखी है, दूसरी ओर सजल-प्रणय-समुद्र का बड़वानल। दोनों ओर कवि का

जीवन हुताशन बन गया है। इनमें से कवि को कौन अभीष्ट है ? कर्त्तव्य। उसी के शब्द—

किन्तु चाह का दाह मात्र ही इस जीवन का लक्ष्य नहीं।
कर्त्तव्याकर्त्तव्य तत्त्व के पड़े हुए हैं हम पाल॥

× × × ×

मेरा जीवन तो आँसू ही आँसू की है एक लड़ी।
पर आँसू को उपल बनाना है बस यह साधना कड़ी॥

दावानल-दग्ध कानन में जिस प्रकार संयोग-वश किसी पार्श्व में लताओ और फूलों का शेष रह जाना संभव है, उसी प्रकार इतने सन्तापों में भी 'नवीन' की हृदय-कोमल भावनाओं की झाँकी उनकी कविताओं में अवशिष्ट है। यदि 'विप्लव गायन', 'अनल गान', 'पथ निरीक्षण', 'पराजयगीत', 'तुम्हारी राखी', इत्यादि कविताओं में उत्क्रान्त जीवन का भाव-विस्फोट है तो 'कारागार में वसन्त', 'साक़ी', 'उस पार', 'अर्द्धनारी-नट', 'बिदिया', 'रुनझुन-झुन' तथा इधर के प्रणय-गीतों में 'नवीन' का सौन्दर्य्य-मुग्ध तथा विरह-दग्ध कवि मृदुल हासअश्रु बिखेर रहा है।

नवीन की भावुकता में अनेक प्रकार का संयोजन दीख पड़ता है—उसमें नाथूराम 'शंकर' के अक्खड़पन, खैय्याम की मस्ती, कबीर के जोगिया फक्कड़पन और नजरुल के प्रज्वलन का समावेश जान पड़ता है।

वे पार्थिव जगत् के पार्थिव युवक हैं, इसी लिए उनकी भावनाओं में यत्र-तत्र यौवनोचित आवेगों का रसीला परिचय भी मिलता है। कहीं-कहीं आसक्ति प्रबल हो गई है, जिसके कारण कवि स्वयं चौंककर बोल उठता है—

जीवन के जो प्रबल तक़ाज़े वे कहलाते पाप
क्या ही झोंक रही है दुनिया यूँ आँखों में धूल !

इस आसक्ति का भी कवि के पास एक समाधान है, और वह यह कि—

पार करना है मुझे प्रिय,
गहन गह्वर, शिखर, सेन्द्रिय,
क्यों अभी से पूछते हो
कि कब होऊँगा अतीन्द्रिय ?
घोर विषयासक्तिमय है अनासक्ति-विधान
पीतम, आज हुलसे प्राण ।

यहाँ यह सूचित करना होगा कि समाज दाम्पत्य-प्रणय के प्रति रश्क कर सकता है, जीवन के प्रबल तक़ाज़ों को स्वीकार कर सकता है, किन्तु वह अवैध प्रणय का विरोधी है। आसक्ति की फ़िलासफ़ी में नवयुवकों को इसी से दूर रहना है। गार्हस्थिक मर्यादा को बनाये रखना है।

जिस प्रकार निराला जी ने काव्य-साहित्य में छन्दों की स्वच्छन्दता प्राप्त की है, उसी प्रकार नवीन ने भाषा की उन्मुक्तता

प्राप्त की है। आपकी भाषा उर्दू हिन्दी संस्कृत तथा ग्रामीण शब्दों को समेटे हुए, छन्दों की पटरियों पर मनमौजी चाल से बढ़ी जाती है, जैसे विभिन्न-भाषी यात्रियों को लिये हुए कोई ट्रेन। कहीं तो वह पैसेञ्जर ट्रेन की तरह ख़ूब झकझोरे खिलाती है, कहीं मेल ट्रेन की तरह मनमोदक। कुश-कण्टकों तथा कङ्कड़ों को पार करते हुए जिस प्रकार ट्रेन किसी रम्य प्रान्तर में दर्शकों को आनन्द-विदेह कर देती है, उसी प्रकार आपकी भाषा भावना की विदग्धता में प्राय: अपनी विरूपता का बोध नहीं होने देती। छोटी कविताओं में आपकी भाषा अधिकांशत: सुघर सलोनी रहती है। कहीं-कहीं आपके ठेठ प्रयोगों से भाषा में एक सरल भोलापन आ जाता है, जैसे—'पूछे हो', "अँग-अँग 'अरुझानो' है", 'जानूँ हूँ', इत्यादि। 'वाँ', 'याँ',-जैसे शब्द अक्खड़पन का परिचय देते हैं। उर्दू के तर्ज़-अदा का आपकी भावुकता पर प्रभाव है। अलङ्कारों के रूप-साम्य पर आपका जितना ध्यान दीख पड़ता है, उतना लालित्य पर नहीं। आपकी कविताओं का एक अपूर्ण संग्रह 'कुंकुम' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

अन्य कवि-समूह—सर्वश्री 'नवीन', भगवतीचरण, सुभद्राकुमारी, गोविन्दवल्लभ पन्त, गोकुलचन्द्र शर्म्मा, 'उग्र', उदयशङ्कर भट्ट, स्व० 'कुसुम' की कविताएँ उस समय से उपलब्ध हैं, जब पन्त, निराला और महादेवी का हिन्दी-काव्य-जगत् में विशेष

रूप से प्रकाश्य दर्शन नहीं हुआ था। प्रसाद और माखनलाल के बाद, इन पूर्व प्रकाशित कवियों ने ही नवीन हिन्दी कविता को अपनी कृतियों से सज्जित किया था। श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने स्फुट कविताओं की अपेक्षा अपने नाटकीय गीतों में सरल गीति-काव्य का सुन्दर परिचय दिया है। श्री गोकुलचन्द्र शर्म्मा ने कबीर के अनुसरण पर नूतन शैली में रहस्यवादी कविताएँ 'प्रभा' में लिखी थीं। आपकी कविताओं का एक संग्रह ('प्रदीप') प्रकाशित हो चुका है। श्री उदयशङ्कर भट्ट की स्फुट कविताओं के भी कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त 'तक्षशिला' नामक प्रबन्ध-काव्य तथा स्वलिखित नाटकों के गीत आपकी काव्यकृतियाँ हैं। स्व० 'कुसुम' ने अपने अल्पवय में थोड़ी सी कविताएँ लिखी हैं, जिनका संग्रह प्रकाशित होने पर भी उपलब्ध नहीं। 'उपा' नामक प्रबन्ध-काव्य आपकी एक सुलभ अतुकान्त-कृति है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त, हिन्दी-काव्य में जिन अन्य कवियों की प्रतिभा प्रकाशित है, उनके क्रमागत समूह इस प्रकार हैं—

(१) सर्वश्री मोहनलाल महतो, लक्ष्मीनारायण मिश्र 'श्याम', जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', श्यामसुन्दर खत्री, गुरुभक्त सिंह 'भक्त', रामनाथलाल 'सुमन', रत्नाम्बरदत्त चन्दोला।

श्री मोहनलाल महतो की प्रकाशित कविताओं के संग्रह ये हैं—'निर्म्माल्य', 'एकतारा', 'कल्पना'। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की दो कविता-पुस्तकें—'अन्तर्जगत्' और 'तपोवन'—हैं। श्री 'द्विज' की कविताओं के संग्रह का नाम है—'अनुभूति'। श्री श्यामसुन्दर खत्री की कविताओं का कोई संग्रह सुलभ नहीं। श्री गुरुभक्तसिंह की कविताओं के दो-तीन संग्रह प्रकाशित हो चुके है। 'नूरजहाँ' आपकी उत्तम प्रबन्ध-रचना है। सुमन जी की रचनाओं के संग्रह का नाम है—'विपञ्ची'। रत्नाम्बरदत्त जी के काव्य-संग्रह का नाम है—'मधुकोष'।

(२) सर्वश्री वंशीधर विद्यालङ्कार, गोपालसिंह नैपाली, रामधारीसिंह 'दिनकर', शम्भूदयाल सक्सेना, जगन्नाथप्रसाद खत्री 'मिलिन्द', बालकृष्णराव, हरिकृष्ण 'प्रेमी', सोहनलाल द्विवेदी, पद्मकान्त मालवीय, 'वीरात्मा' इत्यादि।

विद्यालङ्कार जी की कविता-पुस्तक का नाम है—'मेरे फूल'। नैपाली जी की कविता-पुस्तकों के नाम हैं—'उमङ्ग', 'रागिनी', 'पंछी'। 'दिनकर' जी की कविता-पुस्तक का नाम है—'रेणुका'। मिलिन्द जी की कविताओं का संग्रह 'जीवन-सगीत' नाम से प्रकाशित हुआ है। श्री राव की कविता-पुस्तकें है—'कौमुदी' और 'आभास'। श्री प्रेमी की कविता-पुस्तको के नाम हैं—'आँखो में', 'जादूगरनी'। श्री पद्मकान्त मालवीय की कविता-पुस्तकों के नाम हैं—'त्रिवेणी', 'प्याला',

'रुबाइयात पद्य', 'प्रेम-पत्र'। सक्सेना जी की प्रकाशित कविता-पुस्तकों के नाम ज्ञात नहीं।

(३) सर्वश्री आरसीप्रसाद सिंह, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', 'केसरी', 'अज्ञेय', 'बच्चन', 'बालेन्दु', 'अनङ्ग', नरेन्द्र शर्म्मा, 'अञ्चल', विनयकुमार, 'शाखाल' इत्यादि।

श्री आरसीप्रसाद की कविताओं का संग्रह 'कलापी' नाम से प्रकाशित हुआ है। श्री 'प्रभात' के काव्य-संग्रह का नाम है—'कलेजे के टुकड़े' और 'श्वेत नील'। श्री 'अज्ञेय' की कविता-पुस्तक का नाम है—'भग्नदूत'। श्री 'बच्चन' की कविता-पुस्तकें हैं—'तेरा हार', 'मधुशाला', 'मधुबाला', 'मधुकलश', 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त-सङ्गीत'। श्री नरेन्द्र शर्म्मा की कविता-पुस्तकों के नाम हैं—'प्रभात फेरी' और 'प्रवासी के गीत'। 'अञ्चल' की कविता-पुस्तकों के नाम हैं—'मधूलिका', 'अपराजिता'। इधर 'केसरी' ने विशेष उन्नति की है। इस समय प्रगतिशील साहित्य के संघर्ष में हमारे काव्य-साहित्य का स्वरूप बदल रहा है। 'केसरी' ने कला, संस्कृति और प्रगति का मनोहर समन्वय किया है। खेद है कि अभी तक आपका कोई काव्य-संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक नवयुवक कवि अपनी सुन्दर प्रतिभा की झलक दे रहे हैं। ये इतनी संख्या में

आ गये हैं कि द्विवेदी-युग की भाँति छायावाद-युग का साहित्य भी आबाद हो गया है। आनेवाले युगों में हिन्दी-कविता को और भी न जाने कितने कवियों की विपुल शक्ति और सेवा उपलब्ध होगी, जिनकी वाणी के तारों के साथ आज की हृत्तन्त्रियों का स्वर-सङ्गम होगा।

छायावाद, रहस्यवाद और दर्शन

काव्य-सङ्गम—हमारा आधुनिक काव्य-क्षेत्र हिन्दी के अतीत युग की विभिन्न काव्य-धाराओं का सङ्गम है। वीरगाथा, भक्ति और शृङ्गार, इन तीनों युगों की त्रिवेणी वर्तमान के सङ्गम में सम्मिलित होकर आज की नूतन दिशाओं में प्रवाहित हो रही है।

वीरगाथा-काल में वीर-रस का माध्यम था—राजाओं का राजकीय दर्प। उनमें है एक सङ्कट-ग्रस्त राजा के लिए दूसरे राजा पर अधिकार पाने का प्रोत्साहन। रणभूमि है उनका द्वन्द्वक्षेत्र। परन्तु आज तो हमारे देश में उस वीरता ने बुद्ध और गाँधी की करुणा का कोमल स्थान ले लिया है; उसमें राजदर्प नहीं, बल्कि सन्तप्त देश के पीड़ितों की कराह है एवं जीवित रहने के लिए मानवीय अधिकारों से वञ्चित प्राणियों की आत्म-पुकार। इसी लिए आज भी, जब कि—

बजा लोहे के दन्त कठोर, नचाती हिंसा जिह्वा लोल;
भृकुटि के कुण्डल वक्र मरोर, फुहुँकता अन्धरोष फन खोल!
बहा नर-शोणित मूसलधार, रुण्ड-मुण्डों की कर बौछार,
प्रलय-घन सा घिर भीमाकार, गरजता है दिगन्त-संहार;
छेड़ खर शस्त्रों की झनकार, महाभारत गाता संसार!

—(पल्लव—'परिवर्तन')

तब भी, कवि की पारस्परिक सहानुभूति-पूर्ण एकमात्र आकांक्षा यही रहती है—

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव-जग मे बँट जावें।
सुख दुख से औ' दुख सुख से।

—'गुञ्जन'

इसी में सम्पूर्ण विश्व की अशान्त समस्या का शान्तिपूर्ण सरल समाधान है। यह एक देश की नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व की पीड़ित मनुष्यता की आन्तरिक अभिलाषा है! यह वाह्य साम्यवाद का नहीं, बल्कि गान्धी के आन्तरिक ऐक्य का सन्देश है।

संसार आज जहाँ अपने नित्य के शुष्क सङ्घर्ष में प्राणपण से लगा हुआ है, वहाँ हिन्दी-कविता इस सङ्घर्ष की कठोरता को अपनी कोमलता से ही परास्त कर देना चाहती है, किंवा प्रज्वलित वह्नि को आँसुओं की सजलता से ही शीतल करना चाहती है। यही कारण है कि हमारी कविता शाक्तों की कठोर साधना की भाँति परुष न होकर, आज भी वैष्णवों की प्रेमपूर्ण उपासना की भाँति मधुर कोमल है। अतएव आज नवीन हिन्दी-कविता में भी व्रजभाषा की भाँति प्रधानतः प्रेम और सौन्दर्य्य की ही अभिव्यक्ति है। किन्तु इस प्रेम और सौन्दर्य्य का

सम्बन्ध हमारे सूक्ष्म हृदय और जीवन से है। वह चर्म्मचक्षुओं का ही नहीं, आन्तरिक चक्षुओं का भी विषय है। उसमें आत्मा का प्रकाश है। प्राचीन हिन्दी-कविता के शृङ्गार-काल की मानुषी सौन्दर्य-भावना में शेष प्रकृति के सौन्दर्य तथा भक्तिकाल की आत्म-चिन्तना में जीवन के बहुविध समावेश से वर्तमान हिन्दी-कविता की एक सुन्दर स्वतन्त्र सृष्टि हुई है।

आधुनिक कवि की तूलिका का यह सौन्दर्य्याह्वान—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त-रजनी!
तारक-मय नववेणी-बन्धन,
शीश फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन-अवगुण्ठन;
मुक्ताहल अविराम बिछा दे
चितवन से अपनी
पुलकती आ वसन्त-रजनी!

—'नीरजा'

हमारी दृष्टि को दूर क्षितिज तक विस्तृत कर देता है—हमारी चित्तवृत्ति केवल शारीरिक प्रतिमा पर ही नहीं, बल्कि दिगन्त-व्याप्त नैसर्गिक सुषमा तक जा पहुँचती है और इस प्रकार हम सौन्दर्य की अनुभूति हृदय की भाव-साधना से करते हैं।

छायावाद का महत्त्व—सुश्री वर्म्मा के शब्दों में, "मनुष्य को बाह्य सौन्दर्य की ओर से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अपने अविच्छिन्न सम्बन्ध की स्मृति दिलाने का श्रेय भी छायावाद को ही है। स्मृति दिलाई इसलिए कहती हूँ कि यह सम्बन्ध शाश्वत है, केवल हम लोग उसे भूल-से गये थे। हममें से प्रायः सभी बचपन में तितलियों के साथ दौड़े हैं, चिड़ियों के साथ गाते रहे हैं, कोई फूल खिला देखकर ऐसे प्रसन्न होते रहे हैं मानो वह हमारे हृदय में ही फूला हो। परन्तु बड़े होने पर हमारा जीवन ऐसे कृत्रिम बन्धनों में जकड़ जाता है कि उस ओर ध्यान देने की न तो इच्छा होती है, न अवकाश मिलता है। वास्तव में प्रकृति में सान्त्वना और आनन्द देने की अपूर्व शक्ति होती है। तारों से जड़ी चाँदनी रात रोगी को नर्स से अधिक सुख दे सकती है, यदि वह उसकी भाषा समझने में समर्थ हो।" छायावाद की कविता हमें इस भाषा को समझने का एक संकेत प्रदान करती है एवं शेष प्रकृति के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध को परिपुष्ट करती है।

वर्त्तमान जीवन—हमारे सन्त कवियों ने जीवन को असार माना है। उन्होंने संसार के प्रति वैराग्य की दीक्षा दी है, अनुराग की नहीं। अवश्य ही गोस्वामी तुलसीदास जी ने, लोक-संग्रह कर, भक्ति का लोक-धर्म्म के साथ सामंजस्य भी किया था। परन्तु प्रायः भक्त कवियों के लिए मानव-जीवन प्रधान नहीं, बल्कि प्रभु-

मय जीवन ही प्रमुख है। उनकी दृष्टि से मानव जीवन, देवताओं और परमात्मा की कृपा पर ही अवलम्बित है तथा मानव स्वत: सब तरह से अशक्त है। यह दृढ़ विश्वास उस आक्रान्त युग में, जब कि आर्य-धर्म पर चारों ओर से आक्रमण हो रहे थे, हिन्दू-जाति को अपने आराध्य देवों की महिमा से प्रभावान्वित कर आत्मरक्षण के लिए अमोघ मन्त्र सिद्ध हुआ। परन्तु आज की प्रगति क्या है?—

आज धार्मिक संग्राम की अपेक्षा विश्वव्याप्त महार्घता का दुर्जेय सामना है। लौकिक प्रभुता मनुष्य को अपने फौलादी पञ्जों से दबोचकर उसके जन्मसिद्ध अस्तित्व का उपहास कर रही है। ऐसी दुरवस्था में मानव-समाज के भीतर आत्म विश्वास एवं स्वावलम्बन को जाग्रत करने तथा उसके परमात्मरूप का बोध उसी के भीतर कराने की आवश्यकता है; तभी वह अपने अस्तित्व की आत्मानुभूति कर लोक-जीवन को मधुर-मनोहर बना सकता है। इसी लिए कवि कहता है—

> न्यौछावर स्वर्ग इसी भू पर,
> देवता यही मानव शोभन,
> अविराम प्रेम की बाँहों में
> है मुक्ति यही जीवन-बन्धन!

× × ×

मृण्मय-प्रदीप में दीपित हम
शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम,
हम एक ज्योति के दीप अखिल,
ज्योतित जिनसे जग का आँगन !

—'ज्योत्स्ना'

इन पंक्तियों में कवि ने अपनी आस्तिकता को विश्व-व्याप्त कर दिया है। "हम एक ज्योति के दीप अखिल"—इस आत्म-बोध के द्वारा ही हम अपने-अपने अस्तित्व की विराट् सार्थकता समझ कर परस्पर स्नेही, सहृदय एवं सहचर बन सकते है और तभी विश्व मे समान भाव की उपलब्धि हो सकती है। यही वर्तमान कवि का शुभ-कामना भी है—

गूँजे जयध्वनि से आसमान
'सब मानव-मानव हैं समान !'
निज कौशल, मति, इच्छानुकूल
सब कार्य-निरत हो भेद भूल,
बन्धुत्व भाव ही विश्व-मूल,
सब एक राष्ट्र के उपादान
गूँजे जयध्वनि से आसमान।

—'ज्योत्स्ना'

वतमान कविता की ऐसी ही आत्म-प्रवृत्ति हमारी भावना को छायावाद तथा रहस्यवाद की ओर ले जा रही है। दूसरे

शब्दों में, हम पुनः पार्थिव विश्व को आत्मिक मनोभावों से मनोहर बनाने का उपक्रम कर रहे हैं।

भिन्नता में नूतनता—वर्तमान युग की सांकेतिक हिन्दी-कविता, जिसे हम छायावाद तथा रहस्यवाद संज्ञा दे चुके हैं, आज हमारे साहित्य के लिए एक गूढ़ पहली बनी हुई है। परन्तु हमारे साहित्य के लिए यह सर्वथा नई चीज़ नहीं है, हमारे प्राचीन पद्यों में भी इसका यथेष्ट समावेश है। हाँ, उस समय की विषय-सामग्री और भाषा दूसरे प्रकार की थी और आज की भिन्न प्रकार की है। यह भिन्नता ही नूतनता बन गई है। हिन्दी में छायावाद तथा रहस्यवाद की सृष्टि कुछ साहित्यिक उपादानों से भी हुई है—प्रथम तो अँगरेज़ी अथवा यूरोपीय साहित्य के भाव-प्रभाव से, दूसरे बंगाली छायावाद के आकर्षण से, तीसरे कबीर की वाणी के पुनरुत्थान से।

वस्तुपाठ और छायावाद—छायावाद तथा रहस्यवाद है क्या? हमारी समझ में ये दोनो एक ही चीज़ नहीं है। द्विवेदी-युग में शुक्ल जी जिस Matter of Fact* का निर्देश कर चुके हैं, ठीक उसी की दूसरी दिशा में छायावाद है, जो विषय की इतिवृत्तात्मकता को न लेकर केवल उसकी जीवन-स्पर्शिता को ग्रहण करता है। किसी वस्तु की इतिवृत्तात्मकता बहुत

* मैटर आफ़ फ़ैक्ट के लिए स्थूल सत्य अथवा वस्तुपाठ शब्द उपयुक्त जान पड़ता है।

कुछ ज्ञान-विज्ञान के समीप रहता है; किन्तु जीवन-स्पर्शिता या छायावाद भाव के समीप। एक हमें सांगोपांग वस्तु या पदार्थ-पाठ जैसा लगता है तो दूसरा सार-अंश जैसा। इतिवृत्तात्मक कविता का सम्बन्ध यदि स्थूल शरीर से है तो छायावाद का सूक्ष्म प्राण से। इतिवृत्तात्मक दृष्टि का पद्यकार यदि एक पुष्प के सर्वाङ्ग का विवरणात्मक वर्णन करेगा तो जीवन का छायावादी कवि उस पुष्प के भीतर से केवल उस प्राणमय जीवन को अपनायेगा जो उसके साथ आत्मीयता स्थापित किये हुए है; यथा—

रँगीले मृदु गुलाब के फूल !
कहाँ पाया मेरा यौवन ?
प्राण ! मेरा प्यारा यौवन ?
रूप का खिलता हुआ उभार,
मधुर मधु का व्यापार;
चुभे उर में सौ-सौ मृदु शूल,
खुले उत्सुक दृग-द्वार;
हृदय ही-से गुलाब के फूल
तुम्हीं-सा है मेरा यौवन।

- 'पल्लव'

इस प्रकार की काव्यानुभूति, विश्व की समग्र सृष्टि के साथ कवि-हृदय को एकात्म कर देती है। अनेक में एक ही चेतन के आभास से ही तो परब्रह्म के 'एकोहं द्वितीयो नास्ति" का बोध

होता है। छायावाद इस बोध-मार्ग का एक साहित्यिक सोपान है, जिसकी पूर्णता रहस्यवाद में है।

रहस्यवाद—जिस प्रकार मैटर आफ फैक्ट से आगे की चीज छायावाद है, उसी प्रकार छायावाद से आगे की चीज रहस्यवाद है। छायावाद में यदि एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा आत्मा का आत्मा के साथ सन्निवेश है, तो रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा के साथ। एक में लौकिक अभिव्यक्ति है तो दूसरे में अलौकिक। ~~एक~~ पुष्प को देखकर जब हम उसे भी अपने ही जीवन-सा सप्राण पाते हैं तो यह हमारे छायावाद की आत्माभिव्यक्ति है; परन्तु उसी पुष्प में जब हम किसी विश्व-व्याप्त परमचेतन का विकास पाते हैं तो यह हमारी रहस्यानुभूति हो जाती है। यथा—

स्पृहा के विश्व! हृदय के हास!
कल्पना के सुख! स्नेह-विकास!
फूल! तुम कहाँ रहे अब फूल?
अनिल में?—बनकर उर्मिल गान,
स्वर्ण-किरणों में कर मुसकान,
झूलते हो झोंको की झूल?
फूल? तुम कहाँ रहे अब फूल?
गगन में?—बन शशि-कला सकल,
देख नलिनी-सी मुझे विकल,

बहाते ओस-अश्रु वा स्थूल ?
फूल ! तुम कहाँ रहे अब फूल ?
स्वप्न थे तुम. मैं थी निद्रित,
सुकृत थे तुम, मैं हूँ कलुषित,
पा चुके तुम भव-सागर-कूल
फूल ! तुम कहाँ रहे अब फूल ?

—'पल्लव'

इसमें एक छिन्न कुसुम (अथवा किसी माँ के लुटे लाल) के प्रति काव्योद्गार है। जब तक वह माँ की गोद में था, तब तक माँ की सम्पूर्ण दृष्टि उसी तक केन्द्रित थी; केवल एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा जुड़ी हुई थी। किन्तु गोद के शून्य हो जाने पर माँ देखती है, उसका फूल-सा लाल सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त हो गया है—कहीं शशिकला बनकर, कहीं गान बनकर, कहीं मुसकान बनकर, अर्थात् सम्पूर्ण रूप-रङ्गों और ध्वनियों में अब वहीं वह है। माँ की दृष्टि, पहले उसमें जितनी ही सीमित थी, अब वह उतनी ही विशाल होकर सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त हो गई है। उस एक परमात्मा-रूपी कुसुम ने मानो हृदय के नेत्रों को दिखला दिया, 'सर्वत्र मैं ही तो हूँ।' यह है रहस्य-वाद की अनुभूति, जिसकी उपलब्धि योगी को साधना द्वारा और कवि को भावना द्वारा होती है। निखिल सृष्टि मे एक परोक्ष सत्ता का आभास ही रहस्यवाद है।

हमारे यहाँ सन्तों की वाणी रहस्यवाद से भरी पड़ी है, जिनमें उनकी उत्कृष्ट साधना के स्वर्गीय गान हैं; उनका सीधा सम्बन्ध, सगुण और निर्गुण उपासना-द्वारा, परमात्मा से है। वर्तमान युग में भावना-द्वारा जिस रहस्यवाद की सृष्टि हो रही है, वह भी एक निगूढ़, निर्विकार परम चेतन की ओर लक्ष्य तो रखती है, किन्तु वह धर्म्म-मूलक नहीं, कला-(सौन्दर्य्य)-मूलक है। कला-मूलक होने के कारण ही हमारे रहस्यवाद की अभिव्यक्ति-शैली बदल गई है।

दार्शनिकता और रहस्यवादिता—किन्हीं महानुभावों की बुद्धि दार्शनिकता और काव्यजन्य रहस्यवादिता को एक ही वस्तु समझकर, कविता में भी दार्शनिकता का सम्मिश्रण करने की ओर संलग्न है। परन्तु दार्शनिकता और काव्यगत रहस्यवादिता दोनों का लक्ष्य एक ही परोक्ष तक पहुँचने का होने पर भी दोनों की सिद्धि में भिन्नता है। सुश्री वर्म्मा के शब्दों में—"दर्शन के मूल में हमारी बौद्धिक अशान्तियुक्त जिज्ञासा रहती है और रहस्यवाद के मूल में प्रेम, जो सीमाबद्ध चेतन (विश्व प्राणी) एक असीम (परोक्ष सत्ता) के लिए अनुभव करता है। उस प्रेम में वह तन्मयता है, जिसे सूफी सन्त हाल कहते हैं और रहस्यवादी समाधि। इसमें सन्देह नहीं कि कविता में हृदय तथा दर्शन में मस्तिष्क की प्रधानता रहती है, परन्तु इसका यह आशय नहीं कि कवि के लिए मस्तिष्कहीन

तथा दार्शनिक के लिए हृदयहीन होना आवश्यक है। वास्तव में दोनों का ध्येय एक ही है। भेद इतना ही है कि एक उस तक मस्तिष्क-द्वारा पहुँचने का प्रयत्न करता है तो दूसरा हृदय-द्वारा। कङ्काल को छिपाये हुए सुन्दर शरीर कवि का सत्य है, और कङ्काल-मात्र दार्शनिक का।"

भारतीय सन्तों की सगुण और निर्गुण उपासना, कवि और दार्शनिक के उक्त विभिन्न दृष्टिकोणों की ही परिचायक है। लौकिक माया से ऊपर उठकर भी सगुणोपासकों ने, इस संसार से सदेह-ईश्वर-भक्ति-द्वारा अपनी आत्मीयता बना रक्खी थी; किन्तु नश्वर देह की क्षणभंगुर कङ्कालता से विरक्त होकर निर्गुण सन्तों ने संसार से अपना नाता एकदम ही तोड़ लिया।

हमारे सगुणोपासक सूर और निर्गुणध्यानी कबीर, क्रमशः भावनाशील कवि तथा चिन्तनाशील दार्शनिक के रूप में अपने-अपने स्थान का पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। अवश्य ही सूफी कवियों की भाँति कबीर ने अपने किन्हीं गीतों में सगुणोपासकों के माधुर्य्य भाव को भी जीव और माया के रूपक-द्वारा बड़ी सरसता से व्यक्त किया है। उनके ऐसे ही गीतों में कवित्व प्रस्फुटित हुआ है।

हाँ, कवित्व के बिना तो दार्शनिकता का निस्तार नहीं। शुष्क दार्शनिकता अपने को मनोरम बनाने के लिए ही गीतों का आश्रय लेती है। कोरा दार्शनिक तो एक ऐसा गणितज्ञ है जो

आध्यात्मिक तत्त्वों का गुणन करता रहता है। इसी गुणन-बुद्धि-द्वारा सृष्टि और स्रष्टा पर विचार करते-करते अन्त में उसके हाथ आता है—शून्य (निराकार निर्गुण)। दार्शनिक जिस तत्त्व को चिन्तना-द्वारा उपलब्ध करता है, कवि उसी को भावना-द्वारा मूर्त्त रूप देता है; इसी लिए दार्शनिकों का 'शून्य', वैष्णव रहस्यवादियों को राधा का भाल बिन्दु बनकर उद्दीप्त हो उठता है—मानो अखिल विश्व-श्री संकेत-रूप से एक निर्गुण में ही केन्द्रित होकर अपने को उद्भासित करती है। इस प्रकार रहस्यवादियों का सगुण देह के भीतर देहातीत है, सीमा के भीतर असीम है, रूप के भीतर अरूप है।

कविता में विचार-प्रधान दार्शनिकता हिमालय के ग्लेशियर की भाँति पुञ्जीभूत-सी लगती है, किन्तु भाव-प्रधान रहस्यवादिता गीत-रूप मे आर्द्रता के स्रोत-सी जान पड़ती है, मानो उसमें हृदय ही पिघल गया हो। दार्शनिकता में तो वक्तृत्व जान पड़ता है, रहस्यवादिता में कवित्व। वक्तृत्वपूर्ण दार्शनिकता अपनी निगूढ़ता के कारण विवेच्य रूप में जितनी ही ऊँचाई तक पहुँचती है, कवित्वपूर्ण रहस्यवादिता संवेद्य-रूप में उतनी ही गहराई तक।

कविता में अस्पष्टता

भाषा और भाव—सृष्टि के आदि में मानव-समुदाय अवाक था। जब वह विश्व के विस्तृत रङ्ग-मञ्च पर पहले-पहल आया, तब उसके हृदय मे जिज्ञासा, कौतूहल और विस्मय के भाव थे। उसकी आँखें सब कुछ देखती थीं, किन्तु वह कुछ कह नहीं सकता था; क्योंकि तब तक उसके ओठों पर संसार की कोई भाषा नहीं खिली थी। उसके भाव नीरव थे, उसकी भाषा नीरव थी। आदिम मानव एक-दूसरे की तरफ जिज्ञासा से देखते थे, परस्पर इङ्गित-द्वारा कुछ कहते थे और फिर मन ही मन मुस्कराकर रह जाते थे।

किन्तु हृदय के भाव भीतर ही भीतर उद्वेलित न रह सके, श्वासों की तरह वे भी बाहर आने के लिए तड़फड़ा उठे। निदान, भावों के आवेग से उनके ओठों के द्वार हिल उठे—कुछ कहने के लिए, कुछ समझने के लिए। परन्तु ओठों के हिलने से जो शब्द पहले-पहल निकले, वे नितान्त अस्पष्ट थे। तो भी, उसी अस्पष्टता के भीतर से स्पष्ट शब्दों का जन्म हुआ, जिनके द्वारा भिन्न भिन्न दिशाओं में भिन्न-भिन्न भाषाएँ प्रस्तुत हो गईं।

इस भाँति हम देखते हैं कि हमारे जीवन में पहले भावों का जन्म हुआ, फिर उनकी अभिव्यक्ति के लिए भाषा का। भाषा, भावों की अभिव्यक्ति के लिए एक प्रतिनिधि अथवा अवलम्ब मात्र है। अतएव हमारे हृदय में जितने भाव अन्तर्हित है, उन सबो को बहिर्मुख करने में भाषा पूर्ण समर्थ नहीं हो सकती; क्योंकि भाव तो प्रकृति-सृष्टि है, भाषा मानव-सृष्टि। भाव, हमारे जन्म के साथ ही न जाने किस अलौकिक लोक से स्वनिर्मित-से चले आते हैं। फिर उस अलौकिक को लौकिक-द्वारा पूर्णत: कैसे व्यक्त कर दिया जाय? प्रकृति के निस्सीम भावो को मनुष्य अपनी भाषा की लघु परिधि में कैसे आवद्ध कर दे?

फिर भी, अपने भावो को व्यक्त कर देने के लिए प्राणी प्रयास करता ही है। व्यक्त न कर पाने से जीवन भार हो जायगा। अतएव कवि भी इस अभिव्यक्ति के लिए अपनी भाषा को अनेक ढङ्गों से, अनेक साधनों से, सामर्थ्यवान् बनाता है। दूसरे शब्दो में उसे कला का सहारा लेना पड़ता है। भावों और विचारो की अभिव्यक्ति की सुन्दरता-कुशलता का ही नाम तो कला है। भाषा और कला के मेल से भावों और विचारो को जो मनोरम स्वरूप मिलता है, उसी को साहित्य कहते है।

साहित्य और कला--गद्य में साहित्य का उद्देश्य विचारों को प्रस्फुटित करना रहता है; कविता में हृदय के मूक भावों को सशब्द एवं सजीव कर देना। परन्तु जैसा कि प्रारम्भ में

कहा जा चुका है—भाषा लौकिक सृष्टि है, भाव अलौकिक। इस अलौकिक को लौकिक द्वारा किस प्रकार पूर्णतः व्यक्त कर दिया जाय? बस, यहीं पर तो कविकला की परीक्षा हो जाती है। श्री रवीन्द्रनाथ के शब्दों में—"भाषा के बीच में इस भाषातीत को प्रतिष्ठित करने के लिए साहित्य मुख्यतः दो वस्तुओं को मिलाया करता है, एक चित्र को और दूसरे सङ्गीत को। अतएव चित्र और सङ्गीत ही साहित्य के प्रधान उपकरण हैं। चित्र भाव को आकार देता है और सङ्गीत भाव को गति प्रदान करता है।

किन्तु केवल मनुष्य का हृदय ही साहित्य में पकड़ रखने की वस्तु नहीं है। मनुष्य का चरित्र भी एक ऐसी सृष्टि है, जो जड़ सृष्टि की तरह हमारी इन्द्रियों-द्वारा अधीन नहीं होती। मनुष्य-चरित्र 'खड़े हो जाओ' कहने मात्र से खड़ा नहीं हो जाता। वह मनुष्य के लिए अत्यन्त उत्सुकताजनक है, किन्तु उसे पशुशाला के पशु की तरह बाँधकर, बड़े पिञ्जरे में बन्द करके, टकटकी लगाकर देखने का कोई सुगम उपाय नहीं है।

इन्हीं कड़े नियमों से परे विचित्र मानव-चरित्र है—साहित्य इसी को अन्तर्लोक से बाहर लाकर प्रतिष्ठित करना चाहता है। यह अत्यन्त दुरूह कार्य है; क्योंकि मानव-चरित्र स्थिर तथा सुसङ्गत नहीं है, उसके अनेक अंश और अनेक तहें हैं—उसके बाहर-भीतर बेरोक-टोक गमनागमन करना सुगम नहीं है।

इसके अतिरिक्त, उसकी लीला इतनी सूक्ष्म है, इतनी अभावनीय है, इतनी आकस्मिक है कि उसे पूर्ण रूप से हृदयङ्गम करा देना असाधारण शक्ति का ही कार्य है। व्यास, वाल्मीकि और कालिदास आदि यही कार्य तो करते आये हैं।"

मानव-हृदय में जो कुछ अन्तर्हित सत्य है, यदि उसे साहित्य-द्वारा दो-एक युग में ही साकार किया जा सकता, तो संसार में एक दूसरे को ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण आज जो इतना द्वन्द्व, इतना राग-विराग फैला हुआ है, उसकी इतिश्री कभी की हो जाती। अतएव, सृष्टि की ही भाँति साहित्य भी अनन्तकालीन है। हमारे हृदय में, मैशीन के बारीक से बारीक कल-पुर्जों से भी अधिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव अज्ञात पड़े हुए हैं। उन्हें पूर्णतः व्यक्त कर देने के लिए आज भी संसार की किसी भी भाषा में परिपूर्ण शब्द नहीं। इसी लिए तो सृष्टि के अन्त-पर्यन्त नये-नये शब्दों और नये-नये साहित्य की भी सृष्टि होती जायगी।

ऐसी परिस्थिति में, कवि, अपने सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को भी, संसार की वर्तमान अपूर्ण भाषा में ही, भिन्न-भिन्न निर्देशों एवं सङ्केतों से व्यक्त करने का प्रयत्न करता है; परिणामतः उसकी कविता चिह्नमय चीनी भाषा की तरह दुर्बोध हो जाती है, अथवा पुष्पों के नीरव गन्ध की तरह केवल अनुभव करने की वस्तु रह जाती है।

साहित्यिक सरलता—हाँ, कविता में जब कला का बाह्य आडम्बर अधिक आवृत हो जाता है, उस समय भी वह दुर्बोध और रहस्यपूर्ण हो जाती है—भाव उस आडम्बर में उसी तरह आच्छादित हो जाता है, जैसे मेले में जानेवाले एक नन्हें शिशु का सर्वाङ्ग रेशम के ढीले-ढाले भारी कुरते और सितारेदार बड़ी टोपी से ढँक जाता है। श्री रवीन्द्र ने 'गीताञ्जलि' में लिखा है :—

राजार मत वेशे तुमि साजाओ जे शिशु रे,
पराओ जारे मणि-रतन हार,—
खेला धूला आनन्द तार सकलि जाय घुरे,
वसन-भूषण हय जे विषम भार।
छेंड़े पाछे आघात लागि,
पाछे धूलाय हय से दागी,
आपनाके ताइ सरिए राखे सबार हते दूरे
चलते गेले भावना धरे तार,—
राजार मत वेशे तुमि साजाओ जे शिशु रे
पराओ जारे मणि-रतन हार।

कवि ने इन पंक्तियों में बालक के लिए जिस निराडम्बरता एवं सादगी का सङ्केत किया है, वैसी ही निराडम्बरता, वैसी ही सादगी, कविता के भावों के लिए भी आवश्यक है। अन्यथा जिस प्रकार भूषण-वसन के बोझ से दबा हुआ राजकुमार जन-समाज से बहुत दूर हो जाता है, वैसे ही आडम्बरपूर्ण कविता के

भाव भी, विश्व-हृदय से अपना सामञ्जस्य नहीं स्थापित कर सकते।

अतएव हृदय के भाव, शरत-पूनो के चाँद की तरह अपनी सादगी में ही जितना अधिक खिल सकें, उतना ही अधिक भले मालूम पड़ते हैं। जो स्वयं सुन्दर है, उसके लिए अलंकरण की आवश्यकता नहीं। जीवन की तरह ही हमारे हृदय के स्वर और भाव भी सरल होने चाहिए।

कुलवधू कविता—हाँ, चन्द्रिका की निरलंकृत शोभा हमारे हृदय को आनन्दित तो करती ही है, परन्तु जब उसके स्निग्ध मुख-मण्डल पर झीने रेशमी बादल का एक हलका-सा अवगुण्ठन छा जाता है, तब देखिए न, उसकी शोभाश्री कितनी चित्तोन्माद-कारिणी हो जाती है। उसके प्रति हमारा आकर्षण, हमारी उत्सुकता कितनी अधिक बढ़ जाती है। यद्यपि अवगुण्ठनमयी हो जाने के कारण चन्द्रिका की शोभा पहले की तरह चटकीली नहीं रहती, सुस्पष्ट नहीं होती, तथापि इस अस्पष्टता में ही कैसा अनुपम सौन्दर्य्य है, कैसा मधुर-रस! मानो उसका रूप-रस ख़ूब छन-छन कर बाहर आ रहा हो! इसी भाँति, कविता-सुन्दरी को भी कभी-कभी अवगुण्ठन की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए नहीं कि समाज की तरह साहित्य में भी परदा-प्रथा का प्रचार हो, बल्कि इसलिए कि उसकी शोभाश्री एक कुलवधू की सलज्ज मुसकान की तरह संयमित, गूढ़, गम्भीर

एवं प्रतिक्षण नवीन बनी रहे। ऐसी कविताएँ लाज में लिपटी उषा के समान सुन्दर मालूम पड़ती हैं।

किन्तु कविता में अस्पष्टता का अभिप्राय यह नहीं है, कि उसके भाव, भङ्ग की तरङ्ग की तरह विशृङ्खल और पागल के प्रलाप की तरह निरर्थक हों। अच्छा कलाकार यह जानता है कि कहाँ तक अस्पष्ट रहना उचित है।

कला की दृष्टि से जो कविताएँ अस्पष्ट लिखी जाती हैं, वे सर्वसाधारण की वस्तु नहीं, केवल भावुक हृदयों के प्रेम की वस्तु हैं। ऐसी कविताओं में लोकोपयोगिता भले ही न हो, परन्तु उनका साहित्यिक महत्त्व अवश्य है।

टेनीसन का परिहास—एक दिन मैं स्वर्गीय रत्नाकर जी के यहाँ काव्य-चर्चा का आनन्द ले रहा था। प्रसङ्ग हिन्दी की नवीन कविता-शैली का चल रहा था। उन्होंने अपने कालेज-जीवन की एक मनोरञ्जक घटना सुनाई। जब वे बी० ए० में पढ़ते थे, तब टेनीसन की एक कविता का अर्थ पूछने के लिए प्रिन्सिपल के पास गये। किन्तु प्रिन्सिपल महोदय भी उसका अर्थ न समझा सके। तब टेनीसन को पत्र लिखकर उसका अर्थ पूछा गया। उन्होंने उत्तर दिया—"जिस समय मैंने यह कविता लिखी थी, उस समय इसका अर्थ समझनेवाले दो थे—एक मै, दूसरा ईश्वर। मैं तो इसका अर्थ भूल गया, शायद ईश्वर को याद हो।"

टेनीसन ने इन शब्दों-द्वारा बड़ा गम्भीर परिहास किया है। जान पड़ता है, लोगों ने अर्थ पूछते-पूछते नाकोदम कर दिया था, इसी लिए झल्लाकर उसने उपर्युक्त उत्तर दे दिया।

बात यह है कि कविता के भाव भी मानव-हृदय की तरह ही बड़े ही गूढ़ और रहस्यपूर्ण होते हैं। मानव-हृदय एक जटिल पहेली है, उसमें न जाने कब कैसी-कैसी भावनाएँ आ-आकर अपना नीड़ बना लेती है, यह शब्दों में नहीं कहा जा सकता। उन भावनाओं को कवि जब शब्दों में व्यक्त कर देना चाहता है, तब वे पूर्णतः प्रस्फुटित नहीं हो पातीं। ऐसी दशा में कवि अपनी कविताओं को जान-बूझकर केवल कला के लिए ही नहीं अस्पष्ट रखना चाहता, बल्कि भावनाओं की गहनता भी इस अस्पष्टता का कारण बन जाती है। उन अस्पष्ट कविताओं को समझने के लिए हमें कवि के हृदय के साथ अपने हृदय को भी एकरस करना पड़ता है। केवल अन्वय और शब्दार्थ ही उस कविता का रहस्योद्घाटन करने में समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि शब्द और पद तो एक सङ्केत मात्र हैं।

टेनीसन की ही तरह रवि बाबू से भी कई बार उनकी भिन्न-भिन्न कविताओं के अर्थ पूछे जा चुके हैं। उन प्रश्नों का उत्तर उनके हृदय ने मूक रहकर दिया। उन कविताओं के अर्थ पूछे जाने की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए वे अपनी 'जीवन-स्मृति' में लिखते हैं :—

"क्या कोई मनुष्य किसी बात को समझाने के लिए कविता लिखा करता है? बात यह है कि मनुष्य के हृदय को जो अनुभव होता है, वही काव्य-रूप में बाहर आने का प्रयत्न करता है। यदि ऐसी कविता को सुनकर कभी कोई यह कहता है कि मैं तो इसमें कुछ नहीं समझता, तो उस समय मेरी मति कुण्ठित हो जाती है। पुष्प को सूंघकर यदि कोई कहने लगे कि मेरी कुछ समझ मे नहीं आता, तो उसका यही उत्तर हो सकता है कि इसमे समझने-जैसा है भी क्या। यह तो केवल 'आभास मात्र' है। इस पर भी यदि वह यही कहे कि—'हाँ, यह तो ठीक है, मैं भी जानता हूँ; पर इसका अर्थ क्या है?'—और इसी तरह बार-बार प्रश्न करने लगे, तो उससे छुटकारा पाने के लिए दो ही मार्ग हैं—या तो उस विषय की चर्चा ही बदल दी जाय, अथवा यह सुगन्ध फूल में विश्व के आनन्द को धारण किये हुए एक आकृति है, यह कहकर उस विषय को और भी गहन बना दिया जाय।" अस्तु।

इन सब बातों से एक बात विदित हो जाती है कि प्रातः-कालीन नीहार की तरह उन अस्पष्ट कविताओं में किसी मार्मिक समय की स्मृति, रेखा-चित्र की भाँति अङ्कित रहती है, जो किसी विशिष्ट भाव की याद के लिए किसी भाँति शब्दमय कर दी जाती है। वह स्मृति-चित्र, साधारण दृष्टि से देखने की

वस्तु नहीं, बल्कि कवि-जैसी आँखें ही उसके रूप-रङ्ग को देख या समझ सकती है।

कवि की शिशु-दृष्टि—साधारण जन जब वस्तु-जगत् की ओर देखते है, तब उन्हे यहाँ की वस्तुएँ जैसी की वैसी दिखाई पड़ती हैं, परन्तु कवि जब देखता है, तब केवल चर्म-चक्षुओं से ही नहीं, बल्कि मानसिक नेत्रों से भी। मानसिक नेत्रों के कारण ही वह निपट शून्य में भी एक चित्र खड़ा करके भर-आँखों देख लेता है। रवि बाबू जब छोटे-से बालक थे, तब वे चूने से पुती हुई दीवार की ओर कौतूहलपूर्ण दृष्टि से देखा करते थे। बीच-बीच में चूने के खिसक आने के कारण जो स्थान रिक्त हो जाते थे, उनमे वे अनेक मनोरम आकृतियों और चित्रों का मानसिक दर्शन पाते थे। वस्तुजगत् के एक साधारण व्यक्ति की दृष्टि में उस चूने से रिक्त स्थान की कोई विशेषता नहीं है, उसके लिए वहाँ से चूना केवल खिसक भर गया है, परन्तु कवि को दृष्टि के लिए वहाँ चूना खिसककर अनेक चित्र छोड़ गया है। यदि एक साधारण व्यक्ति से रवि बाबू कहते—देखो भाई, इसमे ये आकृतियाँ अङ्कित हैं, ये चित्र खुदे हुए हैं; तब वह बेचारा कैसे देख पाता? देखने की कोशिश करके भी नहीं देख पाता। और फिर, रवि बाबू ही उसे कैसे दिखा या समझा पाते? तब क्या दीवार के उस रिक्त स्थान में रवि बाबू-द्वारा अङ्कित की हुई काल्पनिक आकृतियो का कोई अस्तित्व

हो ही नहीं सकता ? क्या चर्म-चक्षुओं से प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाली एकमात्र इन बाहरी वस्तुओं का ही अस्तित्व है और जहाँ से इन चर्म-चक्षुओं में प्रकाश आता है, उसका कोई महत्त्व ही नहीं ?

जो हो, बचपन में रवि बाबू के हृदय में उस चूने से रिक्त स्थान के लिए जो भावुकता थी, वैसी ही भावुकता, कवि की अन्तर्दृष्टि में समस्त सृष्टि के प्रति आजीवन बनी रहती है। कवि भी तो एक बालक ही है, हाँ उसमें तुतलापन नहीं रहता। यह बालक, असुन्दर को सुन्दर कर देता है, शून्य को भी अस्तित्वमय बना देता है। यही बालक बतलाता है कि इस दिखाई पड़नेवाले विश्व के अतिरिक्त, इस संसार में और भी कुछ है, जिसके अस्तित्व को हम भूले हुए हैं।

दृश्य और अदृश्य—कवि जब इस दृष्टिगोचर जगत् की ओर देखेगा, तब उसके साथ उसके भावुक हृदय की भावनाएँ मिलकर किस समय कैसा स्वरूप धारण कर लेंगी, यह स्वयं कवि भी तब तक नहीं जानता, जब तक कि उसी मूड (Mood) में नहीं आ जाता। कविता के लिख जाने के बाद, उस मूड से पृथक् होने पर, कुछ समय के लिए वह अपनी ही तरह अपने भावों को भी भूल जाता है। किन्तु एक दिन संयोग से फिर उसी मूड में आ जाने पर, वे ही अस्पष्ट भाव, दर्पण की तरह उसके दृष्टि-पथ में सुस्पष्ट हो जाते हैं। छायावाद और रहस्यवाद के कला-कुशल कवि ऐसी ही मूड में अपनी कविताएँ

लिखते हैं। अपनी हार्दिक परिस्थिति के अनुसार दुख-सुख का रङ्ग चढ़ाकर, वे वस्तु-जगत् की ओर देखते है और अपनी कल्पना की सूक्ष्मता अथवा स्थूलता के अनुरूप ही भावों की सृष्टि करते है। कल्पना जितनी ही अधिक सूक्ष्म होती है, वह इन चर्म-चक्षुओं से उतनी ही ओझल होती जाती है। वह कल्पना की विहग-बालिका अपने मुक्त पङ्खों से उड़कर कभी अनन्त में लीन हो जाती है और कभी इसी विश्व की एक डाल पर बैठकर अपने प्राणों का सङ्गीत छेड देती है। कभी-कभी वह नील आकाश में नाचते हुए रङ्गीन काग़ज़ की पतङ्ग की तरह इतनी दूर चली जाती है कि हमारे चर्मचक्षु, उसे देखने का प्रयत्न करके भी, नहीं देख पाते। तो क्या सचमुच उसका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता? क्यों नहीं, हृदय के तार की तरह उसकी डोर तो हमारे हाथों में ही रहती है। ऐसी कविताएँ सूक्ष्म होने पर भी हमारे हृदय को आनन्द देती हैं। कला का उद्देश्य हृदय को आनन्दित करना भी तो है।

परन्तु जब कविता, विहग की तरह, इसी विश्व की एक डाल पर बैठकर अपना जीवन-संगीत छेड़ देती है, अथवा सघन कादम्बिनी की तरह अनन्त आकाश में विचरते हुए भी अपनी बूँदें पृथ्वी पर बरसाकर इस भौतिक जगत् को सींच देती है, तब वह केवल साहित्य की ही वस्तु नहीं, जनसाधारण की भी वस्तु बन जाती है।

अस्पष्टता का अपर कारण--हाँ, तो बात चल रही थी कविता की अस्पष्टता के सम्बन्ध में। वे अस्पष्ट कविताएँ, वस्तुतः अस्पष्ट नहीं होतीं, हम अपने हृदय को कवि की तत्कालीन परिस्थिति में रखकर उन कविताओं पर दृष्टिपात नहीं करते, इसी लिए वे अस्पष्ट जान पड़ती है। अपने को उस परिस्थिति में लाने के लिए अपने भीतर भी भावुकता की आवश्यकता है।

हम लोग प्रायः नित्य देखते हैं:—नीलाकाश में कितने रंगों के कैसे-कैसे छोटे-बड़े बादल हृदय के भावों की तरह उड़ते चले जाते है। एक दिन उनमे से न जाने किस अज्ञात वर्ण के बादल को देखकर कवि ने उसके साथ आत्मीयता जोड़ ली, उस मूक-मेघ के हृदय की न जाने कैसी-कैसी बातें उसने अपने अन्तपट पर लिख लीं, फिर उन्हें वर्णमाला के अक्षरों में अङ्कित कर दीं। बादल आये और अतिथि की भाँति बिदा हो गये, केवल उनमें से एक की स्मृति, कवि-हृदय में अवशिष्ट है। आज न वह समय है, न वह बादल। कवि ने उसकी ओर देख-देखकर न जाने क्या-क्या समझा था, उस भाषाहीन वातावरण में न जाने किन-किन संकेतों से, चिह्नो से, उसकी स्मृति को अक्षरमय कर दिया था। कवि के ऐसे भावों का अभिप्राय समझने के लिए हमें भी अपने को उसी मूड में, उसी परिस्थिति में, ले जाना होगा।

और भी देखिए, सरिता के प्रशस्त हृदय में न जाने सौन्दर्य की कितनी सुकुमार वीचियाँ उठतीं और विलीन होती हैं। उन्हीं मे से एक के साथ अपने दुःख-सुख को खोकर कवि अपने को भूल जाता है। केवल शब्दों मे कवि की और उस मृदु-वीचि के हृदय की अभिन्न स्मृति रह जाती है। उस एक लघु वीचि के उठने और विलीन होने की सजीवता एक दिन एक क्षण के लिए कवि के सम्मुख थी—जब कि वह उसके लिए प्रस्तुत था; परन्तु अब ?

इसी भाँति, एक बार नैश गगन के नील-पटल पर एक भुवन-मोहिनी तारिका हँसती हुई दिखलाई पड़ी थी, वह अपना जादू बिखेरती हुई धीरे-धीरे न जाने कहाँ अदृश्य हो गई। वह एक तारिका, कवि की आँखों मे न जाने कैसी उज्ज्वल छवि भरकर, कानो में न जाने किस अज्ञात लोक की कहानी चुपचाप कहकर विलीन हो गई। आज उसका अभिप्राय कवि कैसे समझा दे ?

आप पूछ सकते हैं—कविता में ऐसी सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता ही क्या है ? सुनिए, मनुष्य की दृष्टि जितनी ही स्थूल होती है, वह स्थूल भौतिक जगत् में उतनी ही भटकती रहती है—वह शरीर को देख पाती है, आत्मा को नहीं। अतएव, जीवन की जो मंगल निधि उसे अन्तर्जगत् में ढूँढ़नी चाहिए, उसे वह इस स्थूल जगत् में खोजती फिरती है। ऐसे ही भटकनेवालों से किसी ने कहा है—

लैला लैला पुकारत बन में,
प्यारी लैला बसत तेरे मन में !

कवि जब बाह्य विश्व मे सूक्ष्मावलोकन करते-करते एक दिन सचमुच अपने अन्र्जगत् में पहुँच जाता है, तब वहाँ वह उस 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' से एक रस हो जाता है, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर, अन्तर्जगत् में अन्तर्हित होकर, हमारे साथ न जाने कब से आँख-मिचौनी खेल रहा है।

अन्तर और बाह्य चेतना—कवि के अज्ञात भावों का अर्थ न समझ सकने पर भी वे भाव हृदय को भले लगते हैं, उनमे प्राणों का स्वर बोलता हुआ मालूम पड़ता है। बात यह है कि हमारे जीवन में दो चेतनाएँ अपना काम करती हैं, जैसे स्वप्नलोक में। बाहरी चेतना स्वप्नों की सृष्टि कर देती है किन्तु अन्तर्चेतना इस बात का बोध करा देती है कि हम स्वप्न देख रहे हैं। यह जानते हुए भी कि हम स्वप्न देख रहे हैं, स्वप्न-मूढ़ बने रहते हैं। वही अन्तरतम चेतना काव्य में भी अज्ञात रूप से भीतर ही भीतर मर्म्मस्थल को छूती रहती है, यद्यपि हम बाहरी चेतना-द्वारा अर्थ-विमूढ़ बने रहते हैं।

विहग-कुल के कल-कूजन, सरिताओं की अविरल कल-कल छल-छल, पल्लवों के मृदु मर्मर-मर्मर की ही भाँति कवि के सार्थक किन्तु अस्पष्ट स्वर भी प्रिय मालूम पड़ते हैं। क्या हम बाह्य प्रकृति के कलरव का अर्थ समझ पाते हैं? नहीं। फिर

भी जब वह कल-कल छल-छल और मर्मर-मर्मर का स्वर वन की निःस्तब्धता को भेदकर चारों ओर गूँज उठता है, तब उसके साथ हमारे हृदय में भी न-जाने सुख-दुख की कैसी रागिनियाँ बज उठती है। हाँ, उस स्वर का अभिप्राय, कुछ-कुछ चारों ओर के प्राकृतिक वातावरण से आभासित हो जाता है। वही वातावरण कविता में भी छाया-चित्र की भाँति अङ्कित रहता है। इस छाया-चित्र के सुचारु अंकन में ही तो कवि-लेखनी की कला-कुशलता है। जो कविताएँ अनुभव (Feel) करके लिखी जाती है, उनमे से अनेक अस्पष्ट भी होती हैं, पर वह अस्पष्टता हृदय को मोह लेती है। चाँदनी में पेड़ के पत्तों की तरह, उनके भी चारों ओर एक विचित्र वातावरण-सा रहता है, जो हमें पुलकाकुल कर देता है। साधारणतः दो-तीन बार पढ़ने से वे अस्पष्ट कविताएँ हृदय मे चुभ जाती हैं। यदि नहीं चुभतीं तो वे सम्भवतः बहुत हलकी या सारहीन होती हैं।

बाह्य दृश्यावली को देखकर कवि के हृदय में जो स्मृतियाँ लिपिबद्ध होती हैं, वे कभी-कभी वैसे ही खो जाती हैं, जैसे अपने ही घर में अपनी ही कोई विशेष वस्तु। उस समय कवि की दशा सचमुच टेनीसन की-सी हो जाती है। हम अपने घर मे अपनी उस विशेष-वस्तु को बहुत सचेत होकर रखते तो हैं, परन्तु कभी-कभी वह अनिवार्य आवश्यकता के समय ढूँढ़े भी नहीं मिलती; और एक दिन अचानक न जाने

कैसे बिना किसी प्रयास के ही जब वह स्वतः हाथों में आ जाती है, तब हम आश्चर्य-चकित रह जाते हैं।

इन सब बातों का निष्कर्ष यह नहीं है कि कला में अस्पष्टता के नाम पर हमारे नवीन कवि उच्छृङ्खलतापूर्वक अनर्गल कविताएँ लिखें, बल्कि वे जो कुछ लिखें, उसमें सचमुच आत्मानुभूति और मर्मस्पर्शिता हो।

नवीन काव्य-क्षेत्र में महिलाएँ

यदि हमारी माताओं और बहनों की करुणा और ममता इस धूलिकाच्छादित शुष्क संसार में जाह्नवी की सजल धारा की भाँति प्रवाहित होकर इसके कण-कण को सींच न देतीं तो यह संसार आज इतना हरा-भरा एवं लहलहाता हुआ न दिखाई पड़ता, जिसकी शोभा-सुषमा का गान गाते हम अघाते नहीं हैं।

संसार तो कण्व के तपोवन की भाँति केवल धूम्राच्छादित कठोर तपोभूमि मात्र है, वन-लक्ष्मी शकुन्तला की भाँति हमारी महिलाएँ ही प्रकृति से एकरूप होकर इसे पुष्पित-सुरभित रम्योद्यान बनाये हुए हैं।

साहित्य की जन्मदात्री हमारी महिलाएँ ही हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार संसार की विधात्री हमारी माताएँ हैं। अतएव संसार का साहित्य पुरुष-जाति का उतना आभारी नहीं है, जितना अपनी माताओं और बहनों का।

नारियों ने प्रत्येक युग की जागृति में जगकर प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रगतिशील पग आगे बढ़ाया है, फिर साहित्य में ही वे अपनी गति को शून्य क्यों रहने देतीं? फलतः हम इस क्षेत्र में

भी उनके उज्ज्वल उत्साह और ज्वलन्त स्फूर्ति का यथेष्ट परिचय पाते है।

जिस प्रकार नवीन भारत की आवाज़ ने शताब्दियों से सोई हुई नारी-जाति को राष्ट्रीय क्षेत्र में जगा दिया है, उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र में भी। अतएव राष्ट्रभाषा हिन्दी की पूजा हमारी बहनें भी उसी तन्मयता से कर रही है, जिस एकाग्रता से हमारे पुरुष लेखक और कवि।

सम्प्रति हिन्दी के गद्य और पद्य दोनों ही विभागों में हमारी महिलाओं ने भाग लिया है। परन्तु गद्य में कम, पद्य में अधिक। कारण, महिलाओं की भावुकता-प्रधान प्रवृत्ति काव्यमयी ही है। और पन्त जी के शब्दों में—"आधुनिक भारतीय नारी-जीवन की सङ्कीर्णता, वास्तविकता के अभाव के कारण, वैसे ही नारी-जाति को काल्पनिक आधार ग्रहण करने को विवश करती है।" हर्ष है कि, कविताओं के बाद, अब कहानियों की ओर भी महिलाओं का ध्यान जा रहा है।

हिन्दी-कविता, अनेक परिवर्तनों के बाद, आज जिस नूतन दिशा की ओर उन्मुख है, हमारी कवयित्रियों की दृष्टि भी उसी ओर है।

नवयुग की हिन्दी कविता में ये महिलाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं—*श्री तोरनदेवी शुक्ल 'लली', श्री सुभद्राकुमारी चौहान, श्री महादेवी वर्म्मा, श्री तारादेवी पाण्डेय, स्वर्गीया श्री पुरुषार्थवती*

देवी 'आर्य', स्व० श्री रामेश्वरी देवी 'चकोरी', स्व० श्री रामेश्वरी गोयल, श्री लीलावती देवी भँवर 'सत्य', श्री शकुन्तलादेवी खरे। इनके अतिरिक्त, श्री दिनेशनन्दिनी चोरड्या और श्री विद्याकुमारी भार्गव मनोहर गद्यकाव्य-लेखिका है। श्री विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मञ्जु', श्री कुमारी राजराजेश्वरी देवी 'नलिनी', श्री रत्नकुमारीदेवी काव्यतीर्थ, श्री रामकुमारी चौहान, श्री रूपकुमारी वाजपेयी बी० ए०, श्री सुमित्राकुमारी सिनहा, श्री होमवती देवी, श्री हीरादेवी चतुर्वेदी, स्व० श्री मंगला बालूपुरी, श्री विद्यावती 'कोकिल', श्री कमलाकुमारी चौहान भी प्रसिद्ध कवयित्रियाँ है।

तोरनदेवी 'लली'—'लली' जी उक्त कवयित्रियों में सबसे अधिक अवस्था की, अथच, सबसे पहले लिखनेवाली कवयित्री है, इसी लिए आपने प्राचीन और नवीन दोनों ही शैलियों मे बहुत सी कविताएँ लिखी है। आप ठेठ भारतेन्दु-युग की काव्यशैली से नवीन काव्यक्षेत्र में आई है। आपकी कविताएँ देश-काल के साथ चलती है। किसी ज़माने में आपने समस्यापूर्त्तियाँ कीं, फिर राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं और अब कभी-कभी नये ढंग की भावनाओं का भी अनुसरण करती हैं। नई शैली में राष्ट्रीय कविताएँ ही आपने अधिक लिखी हैं। इधर आपने छायावाद-शैली में भावात्मक मुक्तक भी लिखे हैं। आपकी कविताओं का एक संग्रह 'जागृति' नाम से प्रकाशित हुआ है। भाव सीधे-सादे है और आदर्शवाद से पूर्ण है।

सुभद्राकुमारी चौहान—श्री सुभद्राकुमारी चौहान, कवि और कहानी-लेखिका दोनों ही हैं। कविता और कहानी, दोनों में ही आपको भरपूर यश मिला है तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा दोनों ही पर सेकसरिया-पारितोषिक का सम्मान आप पा चुकी हैं।

श्री सुभद्राकुमारी जी की कविताएँ बहुत सीधी-सादी हैं। यत्र-तत्र स्वाभाविकता ही उनकी मार्मिकता है। नित्य-जीवन के चिरपरिचित मनोवेगों को आपने, उनके यथार्थ रूप में पद्य-बद्ध कर दिया है। यथा—

ख़ूनी भाव उठें उसके प्रति जो हो प्रिय का प्यारा,
उसके लिए हृदय यह मेरा बन जाता है हत्यारा!

इन पंक्तियों मे मोहासक्त हृदय का एक रागात्मक उद्गार है।

श्री सुभद्राकुमारी रियलिस्टिक कवयित्री हैं। उनकी कविताओं में उर्दू कवियों की-सी भावुकता और वस्तु-जगत् के अनुभवों की तीव्रता है। असहयोग आन्दोलन के दिनों में आपने राष्ट्रीय कविताएँ भी खूब लिखी थीं। जिस प्रकार पुरुष कवियों में श्री मैथिलीशरण गुप्त एक विशेष राष्ट्रीय कवि हैं, उसी प्रकार स्त्री-कवियों में आप। अपनी सब कविताओं को लेकर वे द्विवेदी-युग की काव्यशैली की एकमात्र स्त्री-प्रतिनिधि हैं। 'झाँसी की रानी' शीर्षक राष्ट्रीय कविता आपकी एक उत्कृष्ट कृति है। उसमें पद-विन्यास तथा भाव-प्रवाह दोनों ही, सरिता और समीर की

तरह, एक हो गये हैं—दोनों ही एक दूसरे को गति और सङ्गीत प्रदान करते हैं।

'झाँसी की रानी' के अतिरिक्त, प्रणय और वात्सल्य-सम्बन्धी आपकी कुछ कविताएँ भी अपनी स्वाभाविकता में बहुत अच्छी बन पड़ी हैं। यथा—

मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन-वन सी फूल उठी
यह छोटी-सी कुटिया मेरी॥
'माँ-ओ' कहकर बुला रही थी
मिट्टी खाकर आई थी।
कुछ मुँह में कुछ लिये हाथ में
मुझे खिलाने आई थी॥
मैंने पूछा—'यह क्या लाई!'
बोल उठी वह—'माँ काओ।'
हुआ प्रफुल्लित हृदय ख़ुशी से
मैंने कहा—'तुम्हीं खाओ!'

यह शैशव का कितना सरल सुन्दर स्वाभाविक चित्र है।

प्रणय-सम्बन्धी कविताओं में 'चलते समय' और 'चिन्ता'-शीर्षक कविताएँ सचमुच हृदय में चिकोटी काट लेती है। 'मुकुल' आपकी कविताओं का सुन्दर संग्रह है। 'त्रिधारा' में भी

आपकी कुछ कविताओं का संग्रह है। आपकी भाषा प्राय: परिमार्जित और यत्र-तत्र हिन्दी-उर्दू-मिश्रित है। इन दिनों आप बच्चों की कविताएँ लिख रही हैं, मानों अपने मातृ-वात्सल्य को तृप्त कर रही हैं।

महादेवी वर्मा—श्रीमती महादेवी वर्मा, नवीन स्त्री-कवियों में, ध्रुव तारिका के समान हैं। हिन्दी-काव्य में उनके उदय के साथ ही उनकी ज्योतिर्मयी प्रतिभा से अनेक कवयित्रियों को प्रेरणा और स्फूर्ति मिली। न केवल स्त्री-कवियों ने, बल्कि कई नवयुवक कवियों ने भी उनकी वेदना-पूर्ण शैली का अनुसरण किया। पन्त, प्रसाद, माखनलाल और निराला की भाँति ही श्रीमती वर्मा की कविताओं की भी एक खास दिशा है। उनकी संस्कृत-सुघर भाषा, सङ्गीत-पूर्ण शैली, गंभीर भाव-व्यञ्जना अपनी चीज़ है। उनकी भावुकता सूक्ष्म और कल्पना-प्रधान है। उनकी कल्पना का आधार वस्तु-जगत् नहीं, अन्तर्जगत् है; जहाँ हृदय के रङ्ग-मञ्च पर एक ऐसा संसार क्रीड़ा कर रहा है, जिसे हम मन के नेत्रों से ही देख सकते हैं। उनकी कविताएँ पूर्णत: मिस्टिक हैं। उनमें इस वास्तविक संसार के रूप-रङ्ग और चित्र तो अवश्य हैं, परन्तु वे उनकी मूल भावनाओं को व्यक्त करने के साधन एवं सङ्केत मात्र हैं। इस साधन और सङ्केत द्वारा उन्होंने हमारी बाह्य दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाने का प्रयत्न किया है। जब वे कहती हैं—

यह कैसी छलना निर्मम,
कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार ?
तुम मन में हो छिपे मुझे
भटकाता है सारा संसार।

तब वे बाहरी जगत् के विकल मनुष्यों को जीवन का अभीष्ट ढूँढ़ने के लिए अन्तर्जगत् में ही आने का आमन्त्रण देती हैं।

श्रीमती वर्मा की कविताएँ अध्यात्म-वेदना की मधुर वाणी हैं। कवि का आत्म-चिन्तनशील हृदय इस बाह्य संसार में शान्ति नहीं पाता। उसे तो यहाँ एक ऐसा अभाव दिखाई देता है, जिसके बिना सारा संसार सूना है।, यह विराट् विश्व जिस परम नटवर का एक क्रीड़ा-कन्दुक मात्र है, वह नटवर हृदय के किस अज्ञात कोने में छिपा हुआ अपना खेल खेल रहा है, उसे ही भावना-जगत् में खोज-खोजकर पा जाना, इस कवयित्री की कविता का लक्ष्य है, और यही उसके जीवन की वेदनापूर्ण क्रीड़ा!

कबीर ने जिस प्रकार आत्मा को प्रेयसी और उस लीलामय परमात्मा को प्रियतम मानकर अपनी वाणी की वीणा बजाई थी, उसी प्रकार उसी वीणा का स्वर महादेवी जी की कविताओं के भीतर भी ध्वनित है। परन्तु कबीर की वाणी ज्ञान-प्रधान थी, भाव-प्रधान नहीं। मीरा ने उसे भाव-प्रधान बनाकर मधुर और मनोहर कर दिया था। महा-

देवी जी ने कबीर की निर्गुण उपासना में, मीरा की मधुर उपासना का समावेश कर, उसे अपनी कविताओं में प्रतिफलित किया है। हाँ, मीरा की उपासना 'गिरिधर गोपाल' में केन्द्रित थी, किन्तु महादेवी ने चतुर्दिक् प्रकृति से रूप-रङ्ग ले-लेकर अपने हृदय में उसे कुछ और ही स्वरूप दे दिया है। मीरा ने जिस प्रकार अपने उपास्य के लिए आवेदन-क्रन्दन किया है, उसी प्रकार महादेवी ने भी; किन्तु किसी साकार के प्रति नहीं, बल्कि अपने ही मन के एक निराकार के प्रति—

जो तुम आ जाते एक बार
कितनी करुणा कितने सँदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग-भरा उन्माद राग,
आँसू लेते वे पद पखार।
हँस- उठते पल में आर्द्र नैन
धुल जाता ओठों से विषाद,
छा जाता जीवन में वसन्त
लुट जाता चिर-सञ्चित विराग;
आँखें देतीं सर्वस्व वार।

इन पंक्तियों मे मन के उसी अलख प्रियतम के प्रति आकुल आवेदन है। उसे पा जाने के लिए ही कवि ने मानो जन्म-जन्म से वेदना को चिर-सञ्चित कर रक्खा है। परन्तु यह प्राप्ति (तादात्म्य) सहज सम्भव नहीं, इसी लिए कवि के हृदय मे अपनी दुर्बल बेबसी के लिए इतना क्रन्दन है।

श्रीमती वर्मा की काव्य-वेदना अलौकिक होते हुए भी लौकिक प्रेम-भावनाओं मे भी जीवन का सञ्चार करती है। कारण, उनके आराध्य को हम, सूफी भावुकता के अनुसार, श्लिष्ट रूप में ग्रहण कर लेते है।

अपने प्रारम्भिक कवि-जीवन में आपने सामाजिक और राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी थीं, किन्तु आपकी प्रतिभा वहीं तक सोमित नहीं रही। इसके बाद आपकी कविताएँ कल्पना-प्रधान हो गईं। वस्तु-जगत् की भावनाओं की जहाँ समाप्ति होती है, उसके आगे की भावनाएँ महादेवी जी की कविताओं मे है। क्या कवि के उस काल्पनिक जगत् का हमारे जीवन में कोई अस्तित्व नहीं है? दिल्ली के कवि-सम्मेलन में सभानेत्री के पद से महादेवी जी ने कहा था—"कवि के पास एक व्यावहारिक बाह्य ससार है, दूसरा कल्पना-निर्मित आन्तरिक। परन्तु वे दोनों परस्पर-विरोधी न होकर एक दूसरे की पूर्ति करते रहते हैं। एक कल्पना पर यथार्थता का रङ्ग चढ़ाकर उसमें जीवन डालता रहता है, तो दूसरा

वास्तविकता की कुरूपता पर अपनी सुनहली किरणें डालकर उसे चमका देता है।"

श्रीमती वर्मा के 'नीहार' की किसी-किसी कविता में अति कल्पना के कारण उनकी भावुकता अमूर्त्त एवं चित्र-रहित-सी हो गई है, परन्तु वह उनकी प्रथम कृति है, जब कि भावनाओं का नवीन आवेग अधिक भाव-प्रवण रहता है। अपना मार्ग बनाते समय प्रत्येक यात्री को प्रारम्भ में कुछ न कुछ धूमिल पथ से ही अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना पड़ता है। आपकी अब तक की सम्पूर्ण कविताओं का संग्रह 'यामा' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

तारा पाण्डेय—इस वस्तु-जगत् की वेदना से पीड़ित होकर, आँसुओं की भाषा में कविता लिखनेवाली कवयित्री श्रीमती तारा-देवी पाण्डेय हैं। अल्प वय में ही एक साङ्घातिक रोग से उनके हृदय का हास हुलास मुरझाकर विषाद बन गया है। उनका विषाद, सन्ध्या-तारा की भाँति ही, उनके काव्य में चमक रहा है—

अरे सन्ध्या के पहले दीप!
झलकते हो तुम मुक्ताकार;
तुम्हीं मेरे जीवन की ज्योति,
जगमगाते परदे के पार॥
सुनाते मुझको क्या सन्देश,
मौन किरणों की ज्योति पसार?

भला देते हो क्या आदेश
टिमटिमा कर ही बारम्बार ?

अथवा—

तारक-फूलों का बिखरा दल,
नभ-सीपी के हैं मुक्ता-फल।
कितने सुन्दर झलमल-झलमल,
उज्ज्वल छवि से कोमल-कोमल,
सखि, तारावलि का बिखरा दल !
नभ के प्राङ्गण में जब हिल-हिल
करते हैं ये झिलमिल झिलमिल।
मैं व्याकुल-सा भावुकता-वश
जाती हूँ इनमें ही हिल मिल ॥
सखि, करते हैं झिलमिल-झिलमिल !

श्रीमती तारादेवी पाण्डेय का रुग्ण जीवन सन्ध्या-तारा की भाँति ही सर्वथा एकाकी और विकल वेदना से सजल, उज्ज्वल है, इसी लिए वह आपका प्रिय भाव-सहचर है। आपकी काव्य-वेदना में सरलता और मार्मिकता है। आपकी पद-योजना श्रीमती सुभद्राकुमारी जैसी स्पष्ट और भाव-व्यञ्जना श्रीमती महादेवी वर्मा-सी भावुकता-पूर्ण है। इधर आपने कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं। कुछ आनन्दपूर्ण सरल मधुर गीत भी, जिनसे ज्ञात होता

है कि आपका जीवन स्वास्थ्य ग्रहण कर रहा है। आपकी प्रकाशित कविता-पुस्तकों के नाम है—'सीकर', 'शुक-पिक', 'वणुकी'।

स्व० पुरुषार्थवती देवी 'आर्य'—स्वर्गीया श्री पुरुषार्थवती देवी 'आर्य' खिलने के पहले ही एक मुरझा जानेवाली कलिका थीं। यद्यपि वे अब इस विश्व मे नहीं है, तो भी उनकी जीवित प्रतिनिधि उनकी कविताएँ हमारे सामने हैं। उनकी कविताओं में निराशा और उदासीनता का स्वर है—

आह! याद करके क्या होगा अपना गत सङ्गीत।
भूल जायँ विस्मृतियो में ही मेरे राग पुनीत॥
सुनी अनसुनी कर दो मेरी नीरस करुण पुकार।
जाती हूँ वेदना भरे मन से अनन्त के द्वार॥

अथवा 'सरिता के प्रति'—

किसके लिए सकरुण विहाग-सम
अविश्रान्त यह रोदन।
नीरस प्रान्तों में बिखेरती,
क्यों अपना भींगा मन?

कहीं-कहीं आपकी कविताओं में संसार से विरक्ति और एकान्त में शान्त भाव से पड़े रहने की भी सुन्दर भावना है—

विशदाङ्गन में पृथ्वी के क्रीड़ा करते हों प्राणी।
पर मेरा स्थान कहाँ यह कोई जान न पावे॥

आपने राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी थीं। आपके कवित्वपूर्ण भावों में सरलता और सुस्पष्टता है। यदि हिन्दी-साहित्य असमय में ही आपसे वञ्चित न हो जाता तो आप हमारे साहित्य की और भी श्रीवृद्धि करतीं। 'अन्तर्वेदना' आपकी कविताओं का सुन्दर संग्रह है।

स्व० रामेश्वरी देवी मिश्र 'चकोरी'—श्रीमती रामेश्वरी देवी मिश्र 'चकोरी' ने नये-पुराने सभी छन्दों में कविताएँ लिखी हैं। कुछ कविताओं में प्रणय-वेदना और यौवन है, कुछ में राष्ट्रीय भावनाएँ हैं और कुछ में प्रकृति के चारु चित्र। यों तो आपकी सभी कविताएँ थोड़ी-बहुत सुन्दर हैं, किन्तु प्रकृति के चित्राङ्कण में आपने अपनी चितेरी प्रतिभा का विशेष परिचय दिया है। यथा—'पावस'—

आते छिपे दृग मूँदते भानु के
मेघ के छौने बड़े उत्पाती;
चञ्चला माँ तब दीपक लेकर
रोषभरी उन्हें ढूँढने आती।
झोली भरे सुर-सुन्दरियाँ
गजमोतियों की हैं झड़ी-सी लगातीं;
ओलों के रूप में आते वही
उन्हें वल्लरियाँ हिय-हार बनातीं॥

आपकी कृतियों में वर्तमान युग के विभिन्न कवियों की शैलियों का अनुसरणपूर्ण सम्मिश्रण है। सूक्तियों की ओर आपकी रुचि अधिक रही है। "किञ्जल्क" आपकी कविताओं का सुन्दर संग्रह है।

स्व० रामेश्वरी गोयल—श्रीमती रामेश्वरी गोयल ने थोड़े दिनों से ही कविता लिखनी प्रारम्भ की थी। खेद है कि वे अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय देने के पहले ही इस लोक से चल बसीं। नवीन हिन्दी-साहित्य के सहृदय समीक्षक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की आप धर्मपत्नी थीं। शैली की दृष्टि से आप श्रीमती वर्मा की पथानुगामिनी रही हैं। आपकी कविताओं में प्रेममय जीवन का प्रणयोच्छ्वास है—

याद रखना मेरे उद्भ्रान्त
प्यार का, जीवन का इतिहास।
इन्हीं में सरस दिनों की छाप,
हाय, रोने में बदला हास।

नहीं हैं आँसू मेरे नाथ!
व्यथाओं की माला का ढेर।
आज टूटा है मेरा स्वप्न,
न हो जाऊँ निर्धन मैं आह!

किसी-किसी कविता में भाषा प्रांजिक हो गई है। आपने देश-काल के अनुरूप कुछ ओजपूर्ण राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी हैं।

लीलावती भँवर 'सत्य'—श्रीमती लीलावती भँवर 'सत्य' ने थोड़ी ही कविताएँ लिखी हैं। उनमे प्रेमोपासना के सीधे-सादे उत्कृष्ट भाव है। भाव और भाषा, दोनो मे सादगी और सहृदयता है। आपने एकाध राष्ट्रीय कविता भी लिखी है, यथा—

जग के इन सुख-स्वप्नो की है
कुछ भी मुझको चाह नही।
आज विदा मायाविनि आशे !
उर मे तेरी राह नही।

विपुल विघ्न-बाधाएँ आये,
फूल-सदृश स्वागत होगा।
समय पड़े पर फाँसी का भी
हँस-हँस आलिङ्गन होगा॥

माता के प्रिय पद-पद्मो पर
जीवन का यह सुरभित फूल।
आज समर्पण करने को
आई हूँ अपनी सुध-बुध भूल॥

इन पंक्तियों में राष्ट्रीयता होते हुए भी सुन्दर साहित्यिकता है।

शकुन्तला खरे—आप सी० पी० के प्रतिभाशाली नवयुवक कवि श्री नर्मदाप्रसाद खरे की धर्मपत्नी हैं। आपकी कविताओं में महादेवी वर्मा और सुभद्राकुमारी चौहान के बीच का व्यक्तित्व है।

यों कहना ठीक होगा कि सुभद्राकुमारी को ही नवीन संस्करण देकर महादेवी के समीप पहुँचा दिया है। सुभद्राकुमारी की भाँति एक ओर आपने वात्सल्य रस से अपने काव्य को सींचा है, दूसरी ओर महादेवी की भाँति सृष्टि-सौन्दर्य को दिगन्त-व्याप्त कर दिया है। पहले हम वात्सल्य को देखें--

सजनि, एक से दो बन आई।
मेरी ही शिशुता तो फिर से
मेरी गोदी में मुसकाई॥
यौवन ने शैशव को पाया—
खिला फूल फिर कली बना री,
मैं अन्तर-घट को ममता से
सजनि आज फिर से भर लाई॥
पुनः तोतले बोल बोलकर
आँगन में करती रँगरेली,
नित नव ब्याह रचाकर अपने
बनती हँसकर वधू नवेली।
एक बार की कौन कहे सखि,
होती नित सौ बार सगाई॥
तारों से बातें करती हूँ
शशि में जा पड़ता है झूला,

किरणों की रेशम-डोरी ले
फिरता है मन फूला-फूला।
मिट-मिटकर मेरे जीवन ने
नित-नित नई अमरता पाई,
सजनि, एक से दो बन आई।

यह है शकुन्तला का अपनी बालिका ('आशा' बेटी) का परिचय। इसमें हम स्पष्ट देखते हैं कि सुभद्राकुमारी की इन पंक्तियों से—

मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन वन-सी फूल उठी
यह छोटी-सी कुटिया मेरी॥

प्रेरणा पाकर भी इसे रोमैन्टिक कलर दे दिया है। द्विवेदी-युग के कवि गुप्तजी इत्यादि की भाँति यदि सुभद्रा भी नई काव्य-शैली को कभी अपनातीं तो उनकी अभिव्यक्ति का यही स्वरूप होता।

इन पंक्तियों में हम सुभद्रा के इस विकास (शकुन्तला) को महादेवी की अन्तर्दृष्टि से आत्मप्रकाश ग्रहण करते भी देखते हैं—

मिट-मिटकर मेरे जीवन ने
नित-नित नई अमरता पाई।

यह मानों महादेवी के इस सत्य का पारिवारिक प्रत्यक्षी-करण है—

'सृष्टि का है यह अमिट विधान,
एक मिटने में सौ वरदान।'

शकुन्तला महादेवी की भाँति आध्यात्मिक कवि तो नहीं है, किन्तु गृहस्थ की आस्तिकता की भाँति उन्होंने वस्तु जगत् में ही महादेवी के भाव-जगत् का ग्रहण किया है। महादेवी ने जीवन में जिस विराट् स्वरूप की कल्पना की है, उसे शकुन्तला ने अपने ही पार्थिव अस्तित्व की सीमा में बाँध दिया है। महा-देवी कहती है—

रूपसि! तेरा घन-केश-पाश
श्यामल-श्यामल कोमल-कोमल
लहराता सुरभित केश-पाश।

शकुन्तला कहती हैं—

झरकर वेणी के श्वेत फूल
हँस उठे गगन में तारक बन।
मेरी आभा से व्योम हँसा
लहराया सतरंगी दुकूल;
छाया छू-छूकर भूल उठे
तृण-तृण तरु-तरु में मधुर फूल।

मेरी साँसों से मुखरित हो
कर रहा मधुप-दल मधु-गुञ्जन;
झरकर वेणी के श्वेत फूल
हँस उठे गगन में तारक बन ॥

महादेवी वेदना की कवि हैं, उनका सृष्टि-सौन्दर्य भी अश्रुस्नात है, पावस छवि की भाँति। आर्द्रता ही उनकी कविता है। उनमें प्रकृति की सम्पूर्ण शोभा-सुषमा है, सम्पूर्ण रूप-रङ्ग है, किन्तु वह सब कुछ एक सजल अञ्चल से ढँका हुआ है। यों कहें, उन्होंने शृङ्गार को करुणा बना दिया है, वसन्त को पावस। जैसे कोई बालिका अपने बड़ों की अनुभूति के प्रति श्रद्धा रखकर भी अपने संसार में आनन्द-विभोर रहती है वैसे ही शकुन्तला ने महादेवी की कला की एक नव-पल्लविनी होकर भी वासन्तिक रूप-रङ्ग लिया है। हिन्दी-कविता वेदना-प्रधान है, शकुन्तला ने उसमें उल्लास लेकर प्रवेश किया है। हमें आशा करनी चाहिए कि वे उत्तरोत्तर विकासशील रहेंगी।

अन्य कवियों की भाँति ही शकुन्तला ने भी राष्ट्रीय कविताएँ लिखी हैं। राष्ट्रीय कविताएँ मानवता के जागरण के बाल्यकाल की रचनाएँ कही जा सकती हैं। आज तो मानवता के जागरण का तरुण-युग है। आज का संसार अपनी राष्ट्रीय परिस्थितियों में ही केन्द्रित नहीं है; प्रत्युत राष्ट्रीय परिस्थितियाँ तो विश्व-व्याप्त समस्या का माध्यम मात्र है। स्वाधीन और पराधीन सभी राष्ट्रों की

बुनियादी समस्या एक ही है—मनुष्यता की सतह पर सबको जीवित रहने का अवसर देना।

इस तरुण-युग में करुण-मानवता का स्पष्ट स्वर उपस्थित करने के लिए हमें अपनी बहनों के सहयोग की भी अपेक्षा है। वे स्वयं मूर्तिमती समवेदना हैं, फिर उनके कण्ठ से भी हम 'युग-वाणी' क्यों न सुनें। सच तो यह कि युगवाणी उन्हीं के कण्ठ से सजीव होगी।

ठेठ जीवन और जातीय काव्य-कला

"बोल रे पपीहे ! तेरे कण्ठ में हमारी प्यास
लोक-याचना है तेरी गूँजती पुकार में "

—रामचन्द्र शुक्ल

विज्ञान की उन्नति—वन्य जीवन से पृथक् होकर, वनदेवी के अञ्चल के समीप रहने के लिए मनुष्यों ने ग्रामों को बसाया, ग्रामों से पृथक् होकर नगरों को। और नगरों के बाद ? आज विज्ञान की अप्रतिहत यान्त्रिक उन्नति संसार को कहाँ लिये जा रही है ! रेल, स्टीमर, हवाई जहाज़, सब मानो इस पृथ्वी की सरलता से नाता तोड़कर उसे छोड़ भागना चाहते हैं। विधि की सृष्टि की होड़ में आधुनिक युग के विश्वामित्र अपना एक नया संसार बना डालने के चमत्कार में लगे हुए है। फिर भी वे विधि के ही पञ्चभूतों से बँधे हैं, पग-पग पर पञ्चभूतों से ही साहाय्य लेकर उन्हें अपना मनचाहा लोक-निर्म्माण करना पड़ता है। यदि इतनी परवशता न होती, तो इस युग के उद्‌बुद्ध वैज्ञानिक बाजीगर अपनी स्वच्छन्दता से और भी न जाने क्या-क्या कर डालते। अभी तो जो कुछ है, वही मनुष्यों को 'त्राहि माम् त्राहि माम्' कहने के लिए अपर्य्याप्त नहीं।

प्रकृति की ओर—यन्त्रों की चिमनियों से निकलता हुआ वह धूआँ विज्ञान के उस भावी अन्धकार को सूचित करता है, जिससे ऊबकर वह फिर प्रकृत जीवन के स्वच्छ प्रकाश में लौटने के लिए लालायित होगा। भूगोल के अनुसार जिस प्रकार पृथ्वी का पर्य्यटक जहाँ से चलता है, चारो ओर घूमकर फिर वहीं लौट आता है, उसी प्रकार भाराक्रान्त वैज्ञानिक विश्व, जिस सरल मधुमय जीवन की अवज्ञा कर अपनी विडम्बना में जा पड़ा है, प्रतिक्रिया-स्वरूप पुन: उसी प्रकृत लोक में आकर दिव्य जीवन प्राप्त करेगा। इसी लिए हृदय के निसर्ग-मुग्ध कवि ने कहा है—

वहीं लौटकर चला गया है
वह सुख-सुषमा का संसार,
जहाँ खेलता-खिलता रहता
जननि प्रकृति का शिशु-परिवार।

चलो सजनि, हम वहीं चलें फिर
लेकर अपनी क्षीण पुकार,
नदियों से हम पानी माँगें
वसुधा से चावल दो-चार।

कलियों से निज शैशव माँगें
मधु से यौवन-गन्धोच्छ्वास,
चारु चन्द्रिका हमको देगी
जीवन का चिरस्निग्ध-प्रकाश।

ग्राम्य जीवन का महत्त्व—प्रकृति के इसी सहज साहचर्य्य में अपना समाज बनाकर मनुष्यों ने अपने जिस स्वाभाविक जीवन का सृजन किया था, वह ग्राम्य जीवन है। वह वन और नगर के बीच के जीवन का जल-डमरूमध्य है। नागरिक जीवन हमारे ठेठ जीवन का ही एक पुञ्जीभूत रूप है। परन्तु आज के नागरिक जीवन को पश्चिमी सभ्यता की जो वैज्ञानिक विभीषिका ग्रस रही है, वही हमारे ठेठ जीवन के भी मौलिक रूप को विकृत कर रही है। क्या ठेठ, क्या नागरिक, हमारा समग्र जीवन;.मानो किसी विदेशी द्वारा एक अनुवाद मात्र हो गया है। यद्यपि प्रकृति के कतिपय पुजारी कवि इस दुर्दशा में वनान्त-प्रकृति के सौन्दर्य्याह्लाद का रस ग्रहण कर हृदय को सींचने का प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु जिस प्रकार नागरिकता, वनदेवी की विमल माधुरी को भूल गई है, उसी प्रकार काव्य में हम अपने ठेठ (प्रकृत) जीवन को प्रायः भूलते ही जा रहे हैं। वह ठेठ जीवन, जहाँ—

छोटे-से मिट्टी के घर हैं,
लिपे-पुते हैं, स्वच्छ-सुघर हैं।
गोपद-चिह्नित आँगन-तट हैं,
रक्खे एक ओर जल-घट हैं।
खपरैलों पर बेलें छाईं,
फूली-फली हरी मनभाईं। —मैथिलीशरण गुप्त

उस ठेठ जीवन की झलक हमारे आधुनिक काव्य में कितनी है ?

ठेठ जीवन, समाज में हमारे अतीत की संस्कृति का विरल प्रतिनिधित्व करता है। काल के प्रभाव से, जब हम समाज में उस संस्कृति का दर्शन नहीं पाते तो साहित्य में उसे सुरक्षित पाकर (यदि अपनी जातीयता के प्रति प्रेम हो तो) एक कवि की भाँति ही अपने मानस-लोक में रस-विभोर हो जाते हैं। बीसवीं सदी के इस विज्ञान-निर्म्मित रूक्ष जीवन में, त्रेता और द्वापर का आर्य्य ग्राम्य जीवन भले ही 'आउट आफ डेट' हो गया हो, किन्तु हृदय का संस्कार भीतर ही भीतर अधीर हो उठता है उस पुरातन युग की मधुरताओं को साकार देखने के लिए। हमें देश-काल के अनुसार अपना विकास तो अपेक्षित है, परन्तु अपनी ही मूल संस्कृति का विकास। परापेक्षित विकास तो न घर का रखेगा न घाट का। विभिन्न देश, इस विश्व-चित्र को अपनी-अपनी संस्कृति के 'कलर' से ही बहुवर्ण इन्द्रधनुष की भाँति परिपूर्ण बनाते है, उसमें हमारा अपना 'कलर' (चाहे हम 'काले' ही हों) क्या नहीं रहेगा ?

समय के इस दुरन्त छोर से जब हम पीछे की ओर दृष्टि फेरकर भारत को देखना चाहते हैं, तब वह कहाँ दिखाई पड़ता है ! न जाने युगों के कितने पटाक्षेपों में वह छिप गया है। किन्तु

अपने साहित्य में हम देखते हैं, वह काल के साथ आँखमिचौनी खेलकर वाणी के अन्तराल में जा छिपा है। हृदय के अकुलाने पर हम रामचरितमानस में, सूरसागर में, श्रीमद्भागवत में उसे ढूँढ़ने लगते हैं। वहाँ वह हमारे पुराने हमजोली की भाँति शब्दमय होकर बोल उठता है। वही वाणी मानवी संस्करण प्राप्त कर, पुरातन ग्रन्थों की भाँति जीर्ण-शीर्ण होकर, हमारे ठेठ जीवन में आज भी साँस ले रही है। आधुनिक काव्य में हम उसी ठेठ जीवन का एक स्पर्श चाहते हैं।

वह रस, वह दृश्य, वह जीवन—हाँ, आज तो हमारी सम्पूर्ण जीवन-यात्रा यन्त्रणामय ही नहीं, बल्कि यन्त्रमय हो गई है। इस यान्त्रिक यात्रा में हृदय का वह माधुर्य्य कहाँ, जो आर्य्य-दम्पती की इस जीवन-यात्रा को मधुर बना देता है—

हरियाली निराली दिखाई पड़े
    शुभ शान्ति सभी थल छाई हुई।
पति-संयुत सुन्दरी जा रही है
    श्रम-चिन्तित ताप सताई हुई॥
सरिता उमड़ी तट जोड़ी खड़ी
    अति प्रेम से हाथ मिलाये हुए।
सुकुमारी सनेह से सींचती है
    वह प्रीतम भार उठाये हुए॥

दिन बीत गया, निशि चन्द्र लसै,
नभ देख लो शोभती तारावली।
इस मोदमयी वर यामिनी में
यह कामिनी कान्त ले भौन चली॥
मदमाता निषाद नहीं सुनता
मँझधार में नैया लगाये हुए।
हे कन्हैया! उतार दे पार हमें
हम तीन घड़ी से हैं आये हुए॥
—स्व० मन्नन द्विवेदी

जीवन के इस रस के लिए प्रकृति की उसी कछार में हमें जा खड़ा होना होगा, जहाँ हरियाली की भाँति ही, हृदय की प्रेम-लता भी लहलहा रही है।

सौन्दर्य्य और प्रेम, प्रकृति के वरदान है। प्रकृति का आनन्द कँटीले तारों से घिरे हुए नागरिक जीवन के उपवन में संकुचित और कृत्रिम हो जाता है; वह तो प्रकृति के उसी मुक्त प्रान्त में पूर्ण कमल की भाँति प्रस्फुटित होता है। सौ-सौ साधनों से परिपूर्ण होने पर भी नागरिक जीवन अभावों से चिर-पीड़ित रहता है; परन्तु उस ठेठ जीवन में अभाव भी हृदय के भावमय माधुर्य्य को उद्दीप्त कर देते हैं—

टूटि खाट घर टपकत टटिऔ टूटि।
पिय कै बाँह उसिसवा सुख कै लूटि॥

लैकै सुघर खुरपिया पिय के साथ।
छइबे एक छतरिया बरसत पाथ॥

—रहीम

इस अकिञ्चन झोंपड़ी में जो तृप्ति, जो आनन्द बरस रहा है, वह रङ्गमहलों में कहाँ!

आज अट्टालिकाओं से घिरे हुए नगरों में हमारा जीवन भाराक्रान्त होता जा रहा है। प्रकृति के आशीर्वाद से वञ्चित होने के कारण उसमें रस-स्निग्धता नहीं, केवल रूक्षता रहती है;—यह रूक्षता वर्तमान नागरिक-ज़ीवन में शुतुर-मुर्ग के कँकरीले भोजन की-सी ही तृप्ति देती है। किन्तु उस ठेठ जीवन में, जहाँ प्रकृति हमारे साथ एकरस होकर हँसती-खेलती है, एवं हमारे आँसुओ के साथ अपना पतझड़मय विषाद, हमारे उल्लास के साथ अपना शस्य-शोभित आह्लाद एकाकार कर देती है, वहाँ की सरल स्मृतियाँ सोंधे समीर की भाँति ही हृदय को विश्राम दे जाती हैं।

"हृदय का मधुर भार"-शीर्षक कविता में शुक्ल जी ने उस ठेठ जीवन की ठेठ प्रकृति की बड़ी ही स्वाभाविक झलक दिखाई है—

नगर से दूर कुछ, गाँव की-सी बस्ती एक,
हरे-भरे खेतों के समीप अति अभिराम।
जहाँ पत्रजाल-अन्तराल से झलकते हैं—
लाल खपरैल, श्वेत छज्जो के सँवारे धाम॥

बीचोबीच वटवृक्ष खड़ा है विशाल एक
झूलते हैं बाल कभी जिसकी जटाएँ थाम।
चढ़ी मञ्जु मालती लता है जहाँ छाई हुई
पत्थर की पट्टियों की चौकियाँ पड़ी हैं श्याम॥

भूरी हरी घास आस-पास; फूली सरसों है,
पीली-पीली बिन्दियों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल, सघन फिर, और आगे
एक रङ्ग मिला चला गया पीत-पारावार॥

गाढ़ी हरी श्यामता की तुङ्ग-राशि-रेखा घनी
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेरघार—
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभमण्डल से
धुँधली-सी नीली नगमाला उठी धुँआधार॥

अङ्कित नीलाभ रक्त-गर्भ श्वेत सुमनों से
मटर के फैले हुए घने हरे जाल में—
फलियाँ हैं करतीं सङ्केत जहाँ मुड़ते हैं,
और अधिकार का न ज्ञान इस काल में॥

बैठते हैं प्रीतिभोज-हेतु आसपास सब
पक्षियों के साथ इस भरी हुई थाल में।
हाँक पर एक साथ पङ्खों ने सराटे भरे
हम मेंड़-पार हुए एक ही उछाल में॥

देखते हैं जिधर उधर ही रसाल-पुञ्ज
मञ्जु मञ्जरी से मढ़े फूले न समाते हैं।
कहीं अरुणाभ, कहीं पीत पुष्पराग प्रभा
उमड़ रही है, मन मग्न हुए जाते हैं॥
कोयल उसी में कहीं छिपी कूक उठी, जहाँ
नीचे बाल-वृन्द उसी बोल से चिढाते हैं।
छलक रही है रस-माधुरी छकाती हुई
सौरभ से पवन-झकोरे भरे आते हैं॥

अलंकार, कल्पना और सूक्ति-रहित इन पंक्तियों मे कवित्त की सुन्दर सादगी है और ग्राम्य प्रकृति का मनोरम यथातथ्य चित्र।

युवक कवियों का प्रकृति-स्पर्श—नवयुवक कवियों मे श्री गोपालसिंह नैपाली, श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' और श्री गुरुभक्त-सिंह ने भी यत्र-तत्र उस ठेठ प्रकृति को स्पर्श किया है।

'मंसूरी की तलहटी' में ग्राम्य जीवन की एक छवि देखिए—

ऊपर की मनहर मसूरी करती निशि-दिन नभ में विलास।
नीचे की सुन्दर मंसूरी करती है जङ्गल में निवास॥
साथ में स्वर्ग की छटा लिये वह नीचे-नीचे आती है।
बिछ जाती है मेरे आँगन में फिर बन-बनकर हरी घास॥
हैं आस-पास वन में बिखरे कितने कुटीर ये कई गाँव।
खेलते यहाँ आँगन में हैं मानव स्वभाव के मधुर भाव॥

संगीत मधुर इनके जीवन का गाय भैंस की घण्टी में।
लौकी के चौड़े पातों पर लहराते इनके मनोभाव ॥

—गोपालसिंह नेपाली

नागरिक जीवन से उपराम होने पर कवि 'दिनकर' ने, निम्न पंक्तियों में, सायंकालीन ठेठ प्रकृति और ठेठ कौटुम्बिक जीवन का ऐसा एकात्मरूप उपस्थित किया है, जिसके स्वाभाविक सौन्दर्य्य और माधुर्य्य से हृदय ओत-प्रोत हो जाता है -

स्वर्णांचला अहा! खेतों में उतरी सन्ध्या श्याम परी,
रोमन्थन करती आती है गाय, कुचलती घास हरी।
घर-घर से उठ रहा धुँआ, जलते चूल्हे बारी-बारी,
चौपालों में बैठ कृषक, गाते—"कहँ अटके बनवारी?"
वनतुलसी की गन्ध लिये हलकी पुरवैया आती है,
मन्दिर की घण्टा-ध्वनि युग-युग का सन्देश सुनाती है।
टिम-टिम दीपक के प्रकाश में, पढ़ते निज पोथी शिशुगण,
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह गीत-उन्मन—
भैया, लिख दे एक क़लम ख़त मो बालम के योग,
चारों कोने खेम कुशल माँझे ठाँ मोर वियोग!

विरह के सौ-सौ वर्णनों में भी हृदय की वह विदग्धता, वह कसक नहीं, जो उस ग्राम-वधू की इस एक बात में है—"भैया, लिख दे एक कलम ख़त मो बालक के योग... ......।" चौपालों में कृषकों का गीत-समारोह, टिमटिमाते दीपक के प्रकाश में

बच्चों का आमोद पाठ, यह सब कुछ देहात से नगर में आकर बसे हुए किसी भी कर्म्म-श्रान्त व्यक्ति को स्मृति-विभोर कर उस वन्दी मृगशिशु की भाँति लालायित कर देगा जिसे कभी-कभी अपने वन की याद आ जाती हो।

अपनी किशोर-कृति 'वीणा' में श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने भी उस ठेठ प्रकृति पर एक दृष्टि डाली है—

उस सीधे जीवन का श्रम
हेम-हास से शोभित है नव
पके धान की डाली में,—
कटनी के घूँघुर रुनझुन
(बज-बजकर मृदु गाते गुन)
केवल श्रान्ता के साथी हैं
इस ऊषा की लाली में।

यदि पन्त जी-जैसे प्रकृति-सुषमा के सहृदय कवियों द्वारा उस ठेठ जीवन का भी आत्मोद्घाटन होता रहे तो हमारा आधुनिक काव्य-साहित्य उस रस से भी परिपूर्ण हो जाय।

अभिव्यक्ति की प्रधानता—जिस प्रकार हमारे मौलिक जीवन को पाश्चात्य नागरिकता का आच्छादन मिलता जा रहा है, उसी प्रकार हमारा काव्य-साहित्य भी पश्चिमी कला का रूप-विन्यास प्राप्त कर रहा है। भाव अपनी स्वाभाविकता-द्वारा नहीं, बल्कि कला की विचित्रता-द्वारा प्रकट हो रहे हैं। किसी

सङ्गीत में जिस प्रकार आलाप प्रधान हो जाय, स्वर गौण; उसी प्रकार काव्य में अभिव्यक्ति प्रमुख होती जा रही है, भाव माध्यम।

इधर पश्चिम की काव्यकला ने अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) को एक ऐसी प्रधानता दे दी है कि भाव तो साङ्केतिक होते ही थे, अभिव्यक्ति भी साङ्केतिकतम होती जा रही है। यथा—

"सूर्यास्त"

"सं-दश
स्वर्ण 'गुन्' जाल
शिखर पर
रजत
        पाठ करता है
बड़े-बड़े घण्टे बजते हैं गेरू से
मोटे निठल्ले नगाड़े
        और एक उत्तुङ्ग
पवन
खींचता है
सागर
को
स्वप्न
से

यह समुद्र के किनारे सूर्यास्त का वर्णन है जिसका विषय यह है—समुद्र की खारी हवा काटती सी है। डूबते सूर्य्य की किरणें ऊँची उठी तरङ्ग की श्वेत फेनिल चोटी पर पड़कर पीला मधुमक्खियों के फैले हुए झुण्ड-सी लगती हैं। वह ऊपर उठी लहर देवमन्दिर के मण्डप सी जान पड़ती है, जिसके भीतर पाठ होता है, बड़े-बड़े घण्टे बजते हैं, गेरू से पुते दरवाजे होते हैं, नगाड़े बजते हैं, बड़ी तोंदवाले मोटे निठल्ले पुजारी बैठे रहते हैं। हवा समुद्र के जल को वैसे ही खींचती जान पड़ती है जैसे मछुवा जाल खींचता हो। सूर्य्यास्त हो जाता है। धुँधलापन, फिर अन्धकार हो जाता है; लोग सोते हैं।

अब किस ढङ्ग से इन सब बातों की संवेदना उत्पन्न करने के लिए पदविन्यास किया गया है, थोड़ा यह देखिए। 'सं' से सनसनाहट अर्थात् हवा चलने की और 'दंश' से चमड़ा फटने, पानी की ठण्डक और मधुमक्खी के डङ्क मारने की संवेदना उत्पन्न की गई है। 'स्वर्ण' से सूर्य्य की किरणों और मधु-मक्खियों के पीले रङ्ग का आभास दिया गया है। 'गुन्' से गुनगुनाहट और गुञ्जार का सङ्केत किया गया है, जो 'दंश' के साथ मिलकर मधुमक्खियों की भावना उत्पन्न करता है। 'जाल' झुण्ड का द्योतक है। 'पाठ', 'घण्टे' और 'नगाड़े' को मिलाकर मन्दिरों में होनेवाले शब्द तथा समुद्र के गर्जन और छींटों के कलकल का आभास दिया गया है। लटके हुए 'घण्टे' की मूर्त्त भावना मे लहरों के नीचे-ऊपर झूलने

का भी संकेत है। 'गेरू' में सन्ध्या की ललाई झलकाई गई है। 'नगाड़े' में निकली हुई तोंद का भी सङ्केत है। रचना के प्रथम खण्ड में 'सूर्य्य' और 'समुद्र' शब्द नहीं रक्खे गये हैं। 'स्वर्ण' में तपे सोने के ताप और दमक की भावना रखकर सूर्य्य का और 'रजत' में शीतलता और स्वच्छता की भावना रखकर जलराशि या समुद्र का संकेत फिर कर दिया गया है (बड़ी कृपा!)। इसमें 'स' के अनुप्रास से भी सहायता ली गई है। यह अनुप्रास पहले खण्ड में 'स' अक्षर से आरम्भ होनेवाले 'सूर्य्य' और 'समुद्र'—इन दो शब्दों की ओर भी इशारा करता है।

कमिंग्ज साहब की समझ में इस विषय को ठीक वैसे ही सामने रखना है जैसे संवेदना उत्पन्न होती है। इसमें ऐसे शब्द नहीं हैं जो अर्थ-सम्बन्ध मिलाने के लिए या व्याकरण के अनुसार वाक्य-विन्यास के लिए लाये जाते हैं, पर संवेदना उत्पन्न करने में काम नहीं देते (जैसे, 'और', 'किन्तु', 'फिर' इत्यादि)। उनके अनुसार यह खालिस कविता है जिसमें से भाषा, व्याकरण, तात्पर्य्य-बोध आदि का अनुरोध पूरा करनेवाले फालतू शब्द निकाल दिये गये हैं।

थोड़ा सोचिए कि कमिंग्ज के इस विचित्र विधान के मूल में क्या है। काव्य-दृष्टि की परिमिति और प्रतिभा के अनवकाश के बीच नवीनता के लिए नैराश्यपूर्ण आकुलता।" (पं० रामचन्द्र

शुक्ल के इन्दौर साहित्य-सम्मेलन के, साहित्य-परिषद् में दिये हुए, भाषण से)

भगवान् न करें कि हमें पश्चिम का अन्ध काव्यानुकरण करना पड़े।

काव्य में वस्तुवाद—पश्चिमी सभ्यता की विभीषिका के कारण जिस प्रकार हमारे तथा थोड़ा-बहुत अन्य देशों के जीवन में सरलता और स्वाभाविकता के लिए एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई है, उसी प्रकार साहित्य मे भी। कहानी की भाँति ही कविता मे भी वस्तु-वादिता की ओर कुछ वर्तमान भारतीय कवियों का ध्यान प्रेरित हुआ है। यह काव्यगत वस्तुवादिता, सामाजिक जगत् का रूक्ष सत्य नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष सत्य का सरल सुन्दर रूप है। उसमें केवल अगोचर जगत्-द्वारा विनिर्म्मित मानसी झाँकी नहीं, बल्कि सगुण जगत् की सगुण अभिव्यक्ति है।

बङ्गाल में यह साहित्यिक प्रतिक्रिया प्रबल रूप से प्रकट हुई है। बङ्गाली कवियों में सर्वश्री अक्षयकुमार बड़ाल, यतीन्द्र-मोहन बागची, कृष्णधन दे, कामिनी राय इत्यादि इस प्रतिक्रिया के प्रतिनिधि हैं। वे सीधी-सादी भाषा में सामाजिक जीवन की भावानुभूतियों को उपस्थित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, विशेषकर ठेठ जीवन को। इस नवीन उद्योग का परिणाम यह हुआ है कि कविवर रवीन्द्रनाथ की मानसी-

कविताओं के प्रतिकूल बङ्गाल मे एक विरोधी वातावरण बन गया है। रवीन्द्रनाथ की यत्किञ्चित् काव्य-प्रेरणा से वर्तमान हिन्दी-कविता में भी जिस छायावादी शैली का प्रचार है, सम्भव है, यहाँ भी उसकी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो। अभी तो हिन्दी में छायावाद का विरोध केवल रूढ़ि-प्रियता के कारण होता रहता है, किन्तु रूढ़ि-मुक्त होकर, नूतन प्रतिभा के निजी प्रकाश का प्रयत्न भी अपेक्षित है। एक मणि के सम्मुख कोई नवीन उज्ज्वल रत्न उपस्थित कर देने से ही उसकी विशेषता प्रकाशित हो सकती है।

भाव-मय वास्तविकता—सम्प्रति छायावाद-स्कूल के हिन्दी-कवियों में श्री सुमित्रानन्दन पन्त की कविता प्रत्यक्ष जीवन की वास्तविकता के स्पर्श से इधर कुछ परिवर्त्तित हो गई है। आज पन्त जी भावों के मनोहर उद्यान से निकलकर जीवन की प्रयोगशाला मे विचार-मग्न हैं। 'पल्लव' के 'परिवर्त्तन' में भी पन्त जी ने कवि की भावुक आँखों से लोक-जीवन को देखा है; किन्तु 'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना' में एक विचारक की दृष्टि से। कल्पना की सजल-कोमल मेघमालाओं में विहार करने के बाद वे वास्तविकतामयी पृथ्वी के चिरन्तन कठोर पृष्ठ पर सुस्थिर होने की साधना कर रहे हैं। जिस प्रकार एक दिन पन्त का सम्पूर्ण यौवन लेकर उनकी कविताओं में विश्व की शोभा-श्री खिल पड़ी थी, उसी प्रकार उनके भावी जीवन को अपनाकर

उनकी आज की साधना मनोरम पूर्णता प्राप्त करेगी। अभी तो उनकी इधर की किन्हीं कविताओं में लालित्य का अभाव दिखाई पड़ता है; किन्तु उन्हीं की पूर्व कृतियों की तुलना में, दूसरों की तुलना में नहीं। पन्त जी भावों की एक खास दिशा में पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं, अब इस नूतन दिशा में सफल होकर वे जीवन के सर्वाङ्गीण कवि हो सकते है। निःसन्देह उनकी प्रतिभा के प्रकाश की कोमल किरणें पहले-पहल कल्पना के उच्चतम उदयाचल पर ही जगमगाई थीं, अब वे चिन्ताशील जगत् की उपत्यका के भीतर विकीर्ण होकर मानव-कुटीरों को प्रकाशित करना चाहती है।

हाँ, पन्त की कोमलकान्त प्रतिभा ने सामाजिक और आत्मिक चिन्तना का आलम्बन प्राप्त कर लिया है, जिसमें तथ्य प्रमुख है, भाव गौण। वस्तु जीवन की विचारपूर्ण यथार्थता को उन्होंने ग्रहण किया है। किन्तु हमारे सामाजिक जीवन की एक भावपूर्ण वास्तविकता भी है, जिसकी झलक हम पन्त जी जैसे मधुर कवि की कृतियों में देखने को आशा रखते हैं। भावपूर्ण वास्तविकता कला से असहयोग नहीं कर सकती, इसके विना तो कविता प्रोजिक हो जायगी। जिस प्रकार सङ्गीत में कला शब्दों को स्वर प्रदान करती है, उसी प्रकार वह काव्य में भावों को रमणीयता। कला के इस अनिवार्य्य सौन्दर्य्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हाँ, कला की एकच्छत्र विपुलता सहज सौन्दर्य्य को विकृत कर सकती है, जैसे स्वर को अत्यधिक

आलाप मदिराक्रान्त कर सकता है। काव्य में कला जब लालित्य के यथोचित प्रकाशन के लिए अङ्गीकृत होती है, तब उसके द्वारा उस भावपूर्ण सहज सरस वास्तविकता की उपलब्धि भी सम्भव हो जाती है, जिसकी प्रेरणा उक्त बङ्गाली कवियों में सन्निहित है।

मानसिक और सामाजिक यथार्थता—कला की वितृष्णा उसके स्वाभाविक परिमाण के लिए होनी चाहिए, न कि उसके परित्याग के लिए। कविता सामाजिक जगत् की हो या मानसिक जगत् की, कला-(सौन्दर्य्य अथच लालित्य)-रहित होकर वह कविता नहीं रह सकती। बङ्गाल में रवीन्द्रनाथ की कविता के प्रतिकूल नवीन वातावरण का कारण कला-सम्बन्धी सहयोग या असहयोग नहीं है, बल्कि, कला की दो भिन्न दिशाओं की रुझान है। वे दो भिन्न दिशाएँ हैं—ललित (सूक्ष्म) कला और वस्तु (प्रत्यक्ष एवं मूर्त्त) कला। दोनों प्रकार की कलाएँ अवास्तविक नहीं। एक में मानसिक जगत् की वास्तविकता है, दूसरे में सामाजिक जगत् की।

सामाजिक जगत् की वास्तविकता कथा-साहित्य की अपनी वस्तु है—चित्रप्रधान होने पर उसे कवित्व की शोभा प्राप्त होती है, चरित्र-प्रधान होने पर उसे गद्य का गौरव मिलता है। बंगाल के प्रतिक्रियाशील कवियों ने सामाजिक वास्तविकता की चित्रमय अवतारणा की है, जब कि पन्त जी ने किसी समाज

की नहीं, बल्कि अखिल लोक-जीवन की दार्शनिक और भौतिक ग्रन्थियों को खोलने का प्रयत्न किया है। विषय की प्रगाढ़ता (गाढ़ापन) के कारण उसमें कवित्व की स्रोतस्विता नहीं; हाँ, भावों का आयतन है।

मानसिक जगत् की वास्तविकता एकमात्र काव्य की वस्तु है, वह सामाजिक प्राणियों की अपेक्षा कवि-समाज के लिए अधिक स्वाभाविक है; वह सामाजिक जगत् में मनुष्य-हृदय की उस स्वतन्त्रता की द्योतक है, जिसके द्वारा वह एक मनोवाञ्छित संसार बनाकर अपार्थिव विश्राम प्राप्त कर लेता है। रवीन्द्रनाथ की कविताएँ ऐसे ही विश्राम को सुलभ करती है, जब कि पार्थिव जगत् की वास्तविकता स्वार्थ-पीड़ित मनुष्यों द्वारा विनिर्मित संसार में ही अपने सुख-दुख का प्रसार करती है। इधर रवि बाबू के भी 'परिशेष' की कविताएँ इस पार्थिव लोक के सम्पर्क में आ गई हैं।

भिन्नता में अभिन्नता—वस्तुकला और सूक्ष्मकला, दोनों दो लोकों की सृष्टि करती हैं। इनमें पार्थक्य हो सकता है किन्तु विरोध अपेक्षित नहीं, क्योंकि दोनों एक दूसरे की पूर्णता के दो सिरे हैं। अतएव, मतभेद कला की भिन्नता में नहीं, सौन्दर्य के विविध प्रकटीकरण में नहीं; बल्कि उसकी अभिव्यक्ति की प्रकारता में है। यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि जिस प्रकार हमारी वेश-भूषा पर पश्चिमीय समाज का प्रभाव

पड़ा है, उसी प्रकार हमारे साहित्य की अभिव्यक्ति पर पाश्चात्य साहित्य का भी। हमारी विशुद्ध जातीय कला तथा उसकी अभिव्यक्ति तो संस्कृत में ही देखी जा सकती है। इससे इतर विदेशी सम्पर्कों के कारण, हम अपने मौलिक रूप में न रहकर, अपने साहित्य में विभिन्न साहित्यिक वातावरणों के अनुसार परिवर्त्तित होते गये हैं—मुस्लिम शासन में फारसी-द्वारा, अँगरेजी शासन में अँगरेजी-द्वारा। पूर्व और पश्चिम की एकता के उपासक होने के कारण, रवीन्द्रनाथ ने अपने साहित्य में दोनों का स्वरैक्य करने का प्रयत्न किया है। किन्तु नवोदित समुदाय चाहता है पूर्ण भारतीयता। यदि राष्ट्र के लिए पूर्ण भारतीयता सम्भव हो, तो साहित्य में भी इसकी सफलता का अनुमान किया जा सकता है।

हमारा उचित प्रयत्न तो यह जान पड़ता है कि अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति में कुछ आवश्यक विदेशी पुट भले ही आ जाय (क्योंकि सभी समाजों और साहित्यों में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो अखिल मानव, अखिल साहित्य के विकास में सहायक हो सकती हैं) किन्तु सोप और पाउडर-द्वारा एकदम 'गोरे' बन जाने की-सी अभारतीय लिप्सा न होनी चाहिए, हमारी जातीयता हममें उद्भासित रहे। जिस प्रकार विभिन्न देशों के शब्दों के उच्चारण में उनके हार्दिक व्यक्तित्व के अनुरूप ध्वनि-चित्र रहता है, उसी प्रकार साहित्य में भी 'स्व-रूप' का परिचय मिलना चाहिए।

सांस्कृतिक तक़ाज़ा—जिस प्रकार विज्ञान नित नूतन चमत्कार उपस्थित करने में लगा हुआ है, उसी प्रकार पश्चिम का साहित्य भी नित नूतन कला-चमत्कार उपस्थित कर लोगों को चमत्कृत करना चाहता है। जिस प्रकार विज्ञान जीवन को बोझिल बना रहा है, उसी प्रकार यह कला-चमत्कार साहित्य को। परिणाम-स्वरूप जीवन के क्षेत्र में विज्ञान का प्राधान्य हो गया है, साहित्य के क्षेत्र में कला का। विज्ञान-त्रस्त जीवन की भाँति कला की इस एकच्छत्र विपुलता से हमारे साहित्य की भी सहज साँस अवरुद्ध न हो जाय,—यही भारतीय कलाकार के लिए सांस्कृतिक तकाज़ा है।

राष्ट्र में जिस प्रकार ठेठ जीवन और नागरिक जीवन दोनों का चिरन्तन स्थान है, उसी प्रकार साहित्य में भी। ठेठ जीवन हमारी जातीयता का विश्वास-परायण शिशु-रूप है, नागरिक जीवन उसी का सतर्क प्रौढ़रूप। दोनों एक ही संस्कृति के द्विदल हैं, समाज और साहित्य में दोनों का विकास अपेक्षित है; बाहर का वायुमण्डल हमारी साहित्यिक प्रगति में सहायक रूप में ग्राह्य हो सकता है, अनिवार्य्य रूप में नहीं।

———

कवि की करुणा-दृष्टि

उसके अधरों पर प्रेम-हास
पलकों में करुणा का प्रकाश।

हाँ, कवि का व्यक्तित्व ऐसा ही है—एक ओर संसार के लिए उसके अधरों पर प्रेम हँसता रहता है, दूसरी ओर सन्तप्त विश्व के लिए उसकी आँखों से करुणा के हिमजल ढुलकते रहते हैं। क्यों? इसलिए कि वह कवि है, सहृदय है; सांसारिक नहीं। अन्यथा, इस संसार में कौन किसके लिए हँसता-रोता है! सांसारिक प्राणी या तो अपने ही सुखों की मदिरा में बेहोश है, या अपने रोने-गाने में ही बेहाल!—

लाली न सुनहली सन्ध्या मानिक मदिरा से जिनकी—
वे कब सुननेवाले हैं दुख की घड़ियाँ भी दिन की॥

—'प्रसाद'

नवीन हिन्दी-कविता में केवल व्यक्तिगत वेदना की पीड़ा नहीं है, बल्कि उसकी आकुल तंत्री में विश्व-वेदना के स्वर भी बजते रहते हैं। आज का कवि अपनी वेदना को भले ही भूल जाय, परन्तु, वह सन्तप्त विश्व की व्यथा से द्रवित होकर उसे गले लगाकर रोये बिना नहीं रह सकता। समाज

में आज भी भले ही सङ्कीर्णता हो, उसकी सहृदयता का विकास भले ही रुक गया हो, परन्तु कवि के हृदय का विकास कैसे रुक सकता है, कवि के तो माने ही हैं—एक सहृदय विकासशील प्राणी। एक सुरभित कुसुम की भाँति ही कवि का भी प्रति-क्षण विकास होता रहता है। उसके कुसुम-हास में उसके प्रेम का मधु रहता है, उसके गन्धोच्छ्वास में उसकी सहृदयता का सौरभ।

अतएव, नवीन हिन्दी-कविता केवल अनन्त के गान नहीं गाती, बल्कि, यदि हम देख सकें तो उसमें इस प्रत्यक्ष जगत् की बड़ी ही करुण अनुभूति भी मिल सकती है।

निराला की करुणा—निराला जी की 'दीन', 'भिक्षुक', 'विधवा' तथा 'रास्ते के मुरझाये फूल' में स्वार्थ-निर्मम विश्व की निर्दयता और कवि-हृदय की स्नेहार्द्रता करुणा से विभोर कर देती है। 'स्वप्न-स्मृति'-शीर्षक कविता में निराला जी ने करुणा, समवेदना तथा निष्ठुरता का कितना सजीव एवं सजल चित्र स्पन्दित कर दिया है—

> आँख लगी थी पल भर,
> देखा, नेत्र छलछलाये दो
> आये आगे किसी अजाने दूर देश से चल कर।
> मौन भाषा थी उनकी किन्तु व्यक्त था भाव,
> एक अव्यक्त प्रभाव—

छोड़ते थे करुणा का अन्तस्तल में क्षीण;
सुकुमार लता के वाताहत मृदु छिन्न पुष्प-से दीन।
भीतर नग्न रूप था घोर दमन का,
बाहर अचल धैर्य्य था उनके उस सुखदुखमय जीवन का;
भीतर ज्वाला धधक रही थी सिन्धु-अनल की
बाहर थीं दो बूँदें—पर थीं शान्त भाव में निश्चल—
विकल जलधि के जर्जर मर्म्मस्थल की।
भाव में कहते थे वे नेत्र निमेष-विहीन—
अन्तिम साँस छोड़ते जैसे थोड़े जल में मीन—
"हम अब न रहेंगे यहाँ, आह संसार!
मृग-तृष्णा से व्यर्थ भटकना, केवल हाहाकार—
तुम्हारा एकमात्र आधार,
हमें दुःख से मुक्ति मिलेगी, हाँ, इतने दुर्बल हैं—
कर दो एक प्रहार!"

यह संसार की विषमता से ऊबी हुई किसी स्वर्गीय आत्मा का कवि के स्मृति-लोक में मौन रुदन है। अनादि युग से न जाने ऐसे कितने ही मूक क्रन्दन भीतर ही भीतर अनन्तशून्य में विलीन हो चुके हैं।

एक अन्य कविता में निराला जी का कवि-हृदय कहता है—

माँ, मुझे वहाँ तू ले चल!
देखूँगा वह द्वार—

दिवस का पार—

मूर्च्छित हुआ पड़ा है जहाँ

वेदना का संसार !

करती है तटिनी तरणी से छलछल—

मुझे वहाँ तू ले चल !

उतर रही है लिये हाथ में प्यारा तारा-दीप

उस अरण्य में बढ़ा रही है पैर, सभीत,

नता, कौन वह ?

किसका है वह अन्धकार का अञ्चल—

मुझे वहाँ तू ले चल !

दिन-भर के अविश्रान्त जीवन-संग्राम के बाद संसार प्रकृति जननी के आँगन में मूर्च्छित-सा हो गिर पड़ा है। अन्धकार के अञ्चल से अपने को छिपाये हुए—(जिसमें उसकी दयाशीलता को कोई देख न ले)—वह करुणामयी निशा देवी उन मूर्च्छितों को सुख की थपकियाँ देने और शीतल उपचार करने के लिए आती है। इस अन्धकार में न-जाने कौन कहाँ पड़ा होगा, अतः उसने हाथों में नन्हे-नन्हे तारों का दीपक ले लिया है। उन्हीं के क्षीण प्रकाश में वह प्रत्येक मूर्च्छित का निरीक्षण कर रही है। वेदना का संसार देखने के लिए इससे अच्छा अवसर कहाँ ? संसार के व्यथितों के लिए इस कवि के हृदय में कितनी ममता है !

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की विधवा है।

× × ×

है करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें
देखा तो भींगी मन-मधुकर की पाँखें;
मृदु रसावेश में निकला जो गुञ्जार
वह और न था कुछ, था बस हाहाकार !"

इष्टदेव की पूजा के समान पवित्र, दीप-शिखा-सी दुःखों की ज्वाला में जली हुई, फिर भी शान्त; कठोर काल के नृशंस अत्याचारों की एक क्षीण स्मृति,—वह कौन है ? किस देवी का यह करुणाजनक पवित्र चित्र है ?—'वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन, दलित भारत की विधवा है !' कैसा विदग्ध संकेत है यह !

"वह आता—
दो टूक कलेजे के करता—
पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों हैं मिलकर एक,
चल रहा लकुटिया टेक,

मुट्ठी भर दाने को — भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता —
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये,
बायें से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाये।
भूख से सूख ओठ जब जाते
दाता भाग्य-विधाता से क्या पाते?—
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।"

हड्डियों के इस हिलते कङ्काल को, पथ का 'भिखारी' बना देनेवाला आत्म-लिप्सु समाज भला उसकी पीड़ा को क्या जानेगा। परन्तु कवि का संवेदनशील हृदय बोल उठता है—

ठहरो, अहा, मेरे हृदय में है अमृत मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।

मुकुटधर की सहृदयता—दूर खेतों में हल जोतते हुए किसान के मर्मस्पर्शी गान को लक्ष्यकर कविवर मुकुटधर कहते हैं—

जब वर्षा ऋतु की ऊष्मा में
होकर श्रम से क्लान्त महान,

हल जोतते किसान छेड़ता
है जब अपनी लम्बी तान,
सुन तब उसे वाटिका से निज
करता मैं उर-बीच विचार,
खेतों में यों आर्त्त स्वर से
यह किसको है रहा पुकार !
या कि शिशिर की शीत-निशा में
मींज रहा हो जब वह धान,
सुनता हूँ तब शय्या से मैं
उसका करुणापूरित गान।
भर जाता है जी नेत्रों से
निद्रा करती शीघ्र प्रयाण,
हृदय सोचता—जलते किसके—
विरहानल से इसके प्राण ?

कवि ने कितनी आकुलता के साथ अपने हृदय को कृषक के गान पर न्योछावर कर दिया है। इसी प्रकार यदि हम दिनभर के थके मजदूरों, झोपड़ों में कराहनेवाले निर्धनों की करुण मूर्ति और आर्त्तवाणी अपने-अपने छन्दों में साकार कर सकें, तो हमारे काव्य जगत् की मानवता का क्षेत्र कितना व्यापक हो जाय।

पन्त की संवेदनशीलता—प्रसाद जी ने 'पत्थर की पुकार' शीर्षक कहानी में लिखा है—

"क्यों जी, तुमने इस पत्थर को कितने दिनों से यहाँ ला रखा है? भला वह भी अपने मन में क्या समझता होगा! सुस्त होकर पड़े हो, उसकी कोई सुन्दर मूर्ति क्यों न बना डाली?" विमल ने रूक्ष स्वर से कहा।

पुरानी गुदड़ी में ढकी हुई जीर्ण-शीर्ण मूर्त्ति खाँसी से कपकर बोली—"बाबूजी, आपने तो मुझे कोई आज्ञा नहीं दी थी।"

"अजी, तुमने बना ली होती, फिर कोई न कोई तो इसे ले ही लेता। भला देखो तो, यह पत्थर कितने दिनों से पड़ा तुम्हारे नाम को रो रहा है।"—विमल ने कहा।

शिल्पी ने कफ निकालकर गला साफ करते हुए कहा—"आप लोग अमीर आदमी हैं, अपनी कोमल श्रवणेन्द्रियों से पत्थर का रोना, लहरों का सङ्गीत, पवन की हँसी इत्यादि कितनी सूक्ष्म बातें सुन लेते हैं, और उसकी पुकार में दत्तचित्त हो जाते हैं; करुणा से पुलकित हो जाते हैं। किन्तु क्या कभी दुखी हृदय के नीरव क्रन्दन को भी अन्तरात्मा के श्रवणेन्द्रिय द्वारा सुनते हैं, जो करुणा का काल्पनिक नहीं, वास्तविक रूप है।"

मनुष्य अपने स्वाभाविक स्नेह, सौहार्द और सहानुभूति को भूलकर इतना आत्मविस्मृत हो गया है कि वह मनुष्य है भी या नहीं, अथवा वह जो कुछ है, क्या है, किसलिए है, इन सब

बातों की ओर उसका ध्यान नहीं। गर्द-ग़ुबार से भरे हुए यन्त्र की भाँति वह संसार की सड़क पर 'आता-जाता' रहता है और इसी को जीवन समझता है। ऐसे जीवन का सत्य, ऐसे जीवन का साहित्य कला के हाथों सज-धज कर हमारे सामने आता रहता है। पर मनुष्य के खोये हुए विवेक को जगाना, उसके आत्म-रूप—(मनुष्यरूप)—का ध्यान दिलाना आज के पन्त को अभीष्ट है। जो कला मनुष्य को मनुष्य के लिए सुलभ न कर उसे मानसिक अकर्मण्यता एवं आत्म-प्रवञ्चना के भुलावे में रखती है, उसमें हमारे कवि को जीवन का सत्य नहीं दिखाई पड़ता, वह कला तो साहित्यिक जगत् में लालसाओं की एक वैसी ही क्रीड़ा है, जैसी कि सामाजिक जगत् में सम्पन्न व्यक्तियों की मनोविनोदिता। जीवन और साहित्य की इस छलना के प्रति पन्त के हृदय में विरक्ति जाग पड़ी है; कोमल प्रकृति के कारण इस विरक्ति में विद्रोह की तीव्रता नहीं, अपितु आत्मा की सीधी-सादी पुकार है। सद्यःप्रकाशित कवि की "ताज"-शीर्षक कविता में भी यही बात है—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !

*　　*　　*

शव को दें हम रूप-रङ्ग आदर मानव का,
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का !

प्रेम के नाम पर हम एक युग से एक ताजमहल की कला का सम्मान देते आये हैं; किन्तु कला की जीवित विभूति—(मनुष्य)—को इस आत्मविनोदी जगत् में कोई स्नेह नहीं। अपनी तूलिका से हम कितने ही मृत व्यक्तियों को रूप-रङ्गों से आकार-प्रकार देकर कला की प्रदर्शनियों में उपस्थित करते हैं, कलाविद् उन्हें पुरस्कृत करते हैं; किन्तु एक क्षुधातुर मनुष्य, जो जीते हुए भी मृत-तुल्य है, जिसका कमनीय मुख राग-शोक से विवर्ण हो गया है, उसे हम भूलकर भी नहीं देखना चाहते। तूलिका से अङ्कित उसके काग़ज़ी चित्र को हम कला की अमूल्य सम्पत्ति समझ लेते हैं; किन्तु विधि की इस सजीव कला (मनुष्य) की दुनिया की हाट में क्या क़ीमत है! हम वास्तविकता की अपेक्षा मिथ्या को अधिक चाहते हैं, वास्तविकता (सत्य) के साथ एक-तार होने के लिए तो हमें आत्मसाधना की कठिन आवश्यकता पड़ती है, किन्तु मिथ्या के साथ तद्रूप होने के लिए चिर-अभ्यस्त आत्म-प्रवञ्चना से काम चल जाता है। जीवन के प्रति, साहित्य के प्रति, कला के प्रति, मनुष्य का यह कितना विघातक ढोंग है। इसी लिए कवि ने 'ताज' में आगे कहा है—

> "मानव ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति?
> आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति!!"

यही ढोंग, यही प्रवञ्चना, यही विडम्बना, यही कृत्रिमता देखकर ही तो कवि की आत्मा पुकार उठी है—

"जिससे जीवन में मिले शक्ति
छूटे भय, संशय, अन्ध-भक्ति,
मैं वह प्रकाश बन सकूँ नाथ !
मिल जावें जिसमें अखिल व्यक्ति ।

× ×

पाकर प्रभु ! तुमसे अमर दान
करने मानव का परित्राण
ला सकूँ विश्व में एक बार
फिर से नवजीवन-का विहान !"

वह ललित कल्पनाओं का कोमल कान्त कवि आज यह कैसा नूतन राग गा रहा है ? यह तो सङ्गीत का सुरीला स्वर नहीं; निपीड़ित चेतन का करुण-रव है ।

उस दिन जीवन के शून्य एकान्त में बैठा हुआ, कविवर पन्त की 'परिवर्तन'-शीर्षक कविता पढ़ रहा था । सूने क्षण की उदासी के कारण, दृष्टि कवि की कतिपय करुण पंक्तियों पर पड़ी—

प्रात ही तो कहलाई मात
पयोधर बने उरोज उदार,
मधुर उर इच्छा को अज्ञात
प्रथम ही मिला मृदुल आकार,
छिन गया हाय ! गोद का बाल
गड़ी है बिना बाल की नाल !

यह एक पुत्र-वञ्चिता नवयुवती माता का हृदय-द्रावक चित्र है। अभी-अभी ही तो वह माता बनी थी; पयोधरों से अपने लाल को एक बूँद प्यार भी नहीं पिला सकी थी, कि—"छिन गया हाय! गोद का बाल"—इसके आगे—"गड़ी है बिना बाल की नाल।" कहकर कवि ने अमूर्त्त नश्वरता को भी बड़ी करुणा से मूर्त्त कर दिया है।

अभी तो मुकुट बँधा था माथ
हुए कल ही हलदी के हाथ;
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुम्बन-शून्य कपोल;
हाय! रुक गया यहीं संसार
बना सिंदूर अँगार।
वातहत-लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार।

यह सद्यःपरिणीता विधवा-नववधू का विवर्ण चित्र है। उसका सर्वस्व चला गया, केवल वातहत लतिका-सा निराधार जीवन ही निस्सारता और दयनीयता को प्रकट करने के लिए शेष रह गया है। "खुले भी न थे लाज के बोल"—"हुए कल ही हलदी के हाथ।"—इन पंक्तियों में उसके नववय की कितनी सलज्ज कोमलता, कितनी सरल अनजानता है!

हाय, अब उसी का सुहाग-सिंदूर अङ्गार बन गया, मानो मधु वन में वासन्ती के खेलने के पहले ही वहाँ दावाग्नि दहक उठी ! तब उस लाज में जितनी ही नीरव आकांक्षा थी, अब इस अङ्गार में उतना ही मूक हाहाकार ! "खिल भी चुम्बन-शून्य कपोल"—मे 'भी' की ध्वनि से यौवन कितना करुण विदग्ध हो गया है।

वही मधुऋतु की गुञ्जित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन है भार

इन पंक्तियों में प्रफुल्ल जीवन की उजड़ी हुई स्मृति है। यौवन का नहीं, उसके शून्य सिंहासन का उदास चित्र है। एक दिन मधु की सुषमा मे जितनी ही सघनता थी, अब उसकी बिदाई में उतना ही सूनापन है ! यौवन का वह मधुर भार ही एक दिन जीवन को वार्द्धक्य का असह्य भार दे जाता है !

एक ओर हमारे नित्य जीवन के ये करुणतम कोमल चित्र है, दूसरी ओर समाज और राष्ट्र के सार्वजनिक रङ्ग-मञ्च पर महाकाल का यह भीम-भयङ्कर रौद्र रूप !—

लालची गीधों से दिन रात
नोचते रोग, शोक नित गात,

अस्थि-पञ्जर का दैत्य दुकाल
निगल जाता निज बाल !

× × ×

कोटि मनुजों के निहत अकाल,
नयन मणियों से जटित कराल,
अरे दिग्गज-सिंहासन-जाल
अखिल मृत देशों के कङ्काल
मोतियों के तारक-लड़-हार
आँसुओं के शृङ्गार !

एक ओर समाज में—"लालची गीधों से दिन-रात, नोचते रोग शोक नित गात !" यही नहीं, बल्कि दुर्भिक्षपीड़ित क्षुधार्त्त प्राणी भूख से पागल होकर अपने ही बच्चे को आप खाये डालता है—("अस्थि-पञ्जर का दैत्य दुकाल, निगल जाता निज बाल")—दूसरी ओर—"छेड़ खर शस्त्रों की झङ्कार, महाभारत गाता संसार !" जिसके कारण कोटि-कोटि मनुजों की अकाल मृत्यु सम्भव है। इन सम्पूर्ण पंक्तियों में हम वर्तमान अशान्त विश्व का पैशाचिक दृश्य देख रहे हैं।

——

कवि का मनुष्य-लोक

शुनह मानुष भाइ,

सबार उपरे मानुष सत्य

ताहार उपरे नाइ।

—चण्डीदास

'कर्म्म में बसते हैं भगवान'—भक्ति-युग की हिन्दी-कविता में संसार के प्रति वैराग्य तथा परमात्मा के अहर्निश ध्यान-गान की प्रचुरता है। विश्व के माया-मोह और उत्पीड़न से खिन्न होकर भक्त कवियों की कोमल आत्मा एकमात्र परमात्मा की ओर ही उन्मुख हुई। भगवान् के करुणामय स्वरूप का चिन्तन, उनके आनन्दमय रूप का मनन यही भक्ति-काव्य का लक्ष्य रहा। भगवान् सर्वसमर्थ एवं कर्ममय है—इसी लिए कृष्ण के एक हाथ में वंशी है तो दूसरे में सुदर्शनचक्र। राम एक ओर पशु-पक्षी, नर-किन्नर, सभी को अपनी प्रेम भुजाओं में भरकर विख्यात जगत्पालक हैं तो दूसरी ओर वे ही अपने हाथों में धनुष-बाण धारण किये हुए कर्म्मवीर भी हैं। इस भांति हम देखते है कि हमारे अलौकिक अवतार भी अपनी अलौकिक कर्मण्यता से ही महान् हैं। वे अपने कर्ममय जीवन से सुप्त समाज को जगा सकते हैं, स्फूर्ति-हीन शिराओं में जीवन फूँक

सकते हैं, इसी लिए वे भगवान् हैं। परन्तु वे भी यदि अकर्मण्य होकर सो जायँगे, तो कोई विद्रोही भृगु अपने पदाघात से उनकी कठोर निद्रा को भङ्ग कर देगा और इस प्रकार वह भव और भगवान् दोनों का भला करेगा।

हमारे अवतार कर्मवीरता के विराट् प्रतिनिधि हैं—वे किसी के लोलुप मुख से अपनी स्तुति सुनने के लिए ही इस पृथ्वी पर नहीं आते, वे आते हैं मनुष्य को पथ दिखलाने के लिए, उसके सम्मुख कर्त्तृत्व का ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित करने के लिए। एक ओर उत्फुल्ल मधु-ऋतु की भाँति अपने प्रमुदित हृदय में नवजीवन का अमृत लिये हुए, तो दूसरी ओर वैशाख के भैरव रूप में आग्नेयास्त्र लिये हुए। इसी लिए ब्रज की गलियों में वंशी बजानेवाला गोपाल महाभारत में सारथी बन जाता है, और जनकपुर की फुलवारी में विहरनेवाला राजकुमार लोक-यात्रा के पथ में कठिनाइयों के अपार समुद्र को भी भेदकर अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

परन्तु भक्ति-काव्य में 'रामचरित-मानस' के अतिरिक्त हम प्रभु के इस व्यापक स्वरूप का दर्शन कहाँ पाते हैं? अन्यत्र तो हमें प्रायः उसके उस कोमल आनन्दमय रूप का ही दर्शन मिलता है जो सुख-शान्ति और ऐश्वर्य के दिनों की शोभा बढ़ा सकता है, जो पुष्पों के सिंहासन पर अपनी झलक दिखा हमारे सुखद क्षणों को मधुरतम बना सकता है।

हमारे यहाँ भगवान् की स्वरूप-कल्पना श्यामवर्ण में की गई है—"शान्ताकारं भुजगशयनं मेघवर्णं शुभांगम्"—काल-भुजङ्गम को भी अपनी तेजस्विता से अपना सेवक बना लेनेवाला, मेघ की भाँति सजल-कोमल-गम्भीर एवं करुणार्द्र!—ऐसा है उस विराट् पुरुष का रूप!! उसी विराट् पुरुष के करुणार्द्र स्वरूप से तदाकार हो जाने के लिए कवि की आकांक्षा है—

घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !
जलधि-मानस में नवजन्म पा
सुभग तेरे ही दृग-व्योम में;
सजल श्यामल मन्थर मूक-सा
तरल अश्रु-विनिर्मित गात ले;
नित घिरूँ फिर फिर मिटूँ प्रिय !
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !

—महादेवी

हाँ, वह मेघवर्णम् शुभांगम्—मेघ की ही भाँति—अपनी करुणाधारा की वर्षा करता है। इसलिए कि हम कृषक की भाँति कर्मठ होकर उस करुणा-स्रोतस्विनी से सींच-सींचकर रूखी-सूखी वसुन्धरा को शस्य-श्यामला अन्नपूर्णा बना दें; विश्व-उपवन में पतझड़ होने पर वासन्ती के लिए पुष्प-पल्लवों के पाँवड़े बिछा दें। किन्तु भगवान् की जो करुणा पुरुषार्थियों के लिए वरदान

है, कर्मण्यों के लिए एक सुन्दर साहाय्य है, वही अकर्मण्यों के लिए अभिशाप भी बन सकती है।

एक दिन उसकी करुणामयी महिमा को लेकर भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदास ने उस रामचरित-मानस की सृष्टि की थी जिसके द्वारा अखिल जग-जीवन नाना स्रोतों में प्रवाहित होकर, भगवान् के चरणों से पूत होकर, अमृतोपम बन गया है। भक्ति-काल के उस आराधना-मय काव्य ने हमें जगाकर कहा था—"कर्म प्रधान विश्व करि राखा।" तुलसीदास ने मनुष्य को मनुष्य रूप में, प्राणी को प्राणि-रूप में ही रखकर उसके लिए भगवान् को सुलभ कर दिया। अनीति और अविचार से परे रहकर कर्म करोगे, तो भगवान् तुम्हें स्वयं ढूँढ़ लेंगे और अविचार एवं अनीति के प्रतिकार के लिए तुम्हें अपना सहायक बनायेंगे; ऐसी ही है उस महात्मा की कला-सृष्टि।

देवता नहीं, मनुष्य—अब तक मनुष्य, देवता तक पहुँच-कर वरदान प्राप्त करने के लिए जितना आतुर होता आया है, उतना यदि उसने मनुष्य के हृदय तक पहुँचकर मनुष्य ही बने रहने का प्रयत्न किया होता तो कितना अच्छा होता! देवता हमें वरदान देगा अपनी पूजा लेकर; किन्तु मनुष्य हमारे सुख-दुःख, आशा-निराशा मे हमें सहयोग देगा, हृदय से हृदय मिलाकर। इसी लिए तो बङ्गाल का ओजस्वी कवि क़ाजी नज़रुल बोल उठा है—

नाई दानव, नाई असूर,
चाई ने सूर; चाई मानव !

हमें क्या चाहिए ?—दानव ? नहीं। असुर ? नहीं। सुर ? नहीं। हमें चाहिए केवल मनुष्य। इन थोड़े-से शब्दों में ही नजरुल ने मनुष्यत्व की व्याख्या-सी कर दी है—उसका मनुष्य न तो दानव की तरह दुर्दान्त है, न असुर की तरह मदान्ध, न देवता की तरह महिमावान्; वह तो है केवल मनुष्य; जो न तो प्रभुता के आसन पर बैठकर अपनी पूजा चाहता है और न दानव एवं असुर की भाँति अकारण ही किसी को उत्पीड़ित करना।

जिस दिन पृथ्वी ऐसे मनुष्यों से परिपूर्ण हो जायगी, उसी दिन के लिए 'ज्योत्स्ना' के कवि ने कहा है -

न्यौछावर स्वर्ग इसी भू पर
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन-बन्धन।

यह भू-स्वर्ग, यह मानव-मय देवत्व, क्योंकर सम्भव है ? वैराग्य से ? नहीं—

वैराग्य-साधने मुक्ति, से आमार नय
असख्य-बन्धन माझे महानन्दमय
लभिव मुक्तिर स्वाद। एइ बसुधार

मृत्तिकार पात्र खानि भरि बारम्बार
तोमार अमृत ढालि दिबे अबिरत
नाना वर्णगन्धमय। प्रदीपेर मतो
समस्त ससार मोर लक्ष वर्त्तिकाय
ज्वालाये तुलिबे आलो तोमारि शिखाय
तोमार मन्दिर माझे।

इन्द्रियेर द्वार
रुद्ध करि योगासन, से नहे आमार।
जे किछु आनन्द आछे दृश्य गन्धे गाने
तोमार आनन्द र'बे ता'र माझखाने।
मोह मोर मुक्तिरूपे उठिबे ज्वलिया,
प्रेम मोर भक्तिरूपे रहिबे फलिया।

—रवीन्द्रनाथ

अर्थात्—वैराग्य-साधन से जो मुक्ति होती है वह मुझे नहीं चाहिए। मैं तो असंख्य (सांसारिक) बन्धनों के बीच में पड़ा हुआ महानन्दमय (सच्चिदानन्दमय) मुक्ति का स्वाद पाऊँगा। इस वसुधा की मिट्टी के बने हुए प्याले में ही तुम (प्रभु) नाना वर्ण-गन्धमय अपना अमृत बार-बार ढाल दोगे। प्रदीप की नाईं मेरा यही संसार (जीवन) लाखों बत्तियों के प्रकाश से, तुम्हारी ही ज्योति-शिखा से, उद्भासित होकर, तुम्हारे ही मन्दिर (विश्व) में जगमगा उठेगा।

योगासन करने से यदि इन्द्रियों के द्वार रुद्ध होते हैं तो मुझे योगासन दरकार नहीं। (संसार के) दृश्य, गन्ध, गान में जो कुछ भी आनन्द है, उनके बीच मुझे तुम्हारा ही आनन्द उपलब्ध होगा। तब मेरा मोह ही मुक्तिरूप में खिल उठेगा, मेरा प्रेम ही भक्तिरूप में सुफल हो जायगा।

नररूप-नारायण—इस प्रकार इस युग का कवि, भगवान् का स्वरूप-दर्शन नित्य प्रति इसी पृथ्वी पर पाता है, उसके लिए तो करोड़ों दीन-दुखी प्राणियों के बीच में ही नारायण ने अपनी एक-एक झाँकी उतार दी है—

"मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू
मैं था तुझे बुलाता सङ्गीत में भजन में।
मैं था विरक्त तुझसे जग की अनित्यता पर
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में।
तू बीच में खड़ा था बेबस गिरे हुओं के
मैं स्वर्ग देखता था, झुकता कहाँ चरन में।
तूने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं
तू कर्म्म में मगन था, मैं व्यस्त था कथन में।
दुख में न हार मानूँ, सुख में तुझे न भूलूँ
ऐसा प्रभाव भर दे मेरे अधीर मन में।"

——

वेदना का गौरव

वेदने ! तुम विश्व की कृश दृष्टि हो,
तुम महा सङ्गीत, नीरव-हास हो,
है तुम्हारा हृदय माखन का बना
आँसुओं का खेल भाता है तुम्हें।" —पन्त

वेदना की अनुभूति में ही अपने क्षुद्र 'अहं' को भूलकर, राग-द्वेष से परे होकर, एक हृदय दूसरे हृदय को गले लगा लेता है। वेदना ही विश्व की एकता की जननी है। वही सिंह और हिरन को एक घाट पर पानी पिलाती है, राजा और रङ्क को एक साथ कर देती है। न केवल मनुष्यों में, बल्कि पशुओं में भी वह एकता का प्रचार करती है। ग्रीष्म के प्रखरतर मध्याह्न में हम जीवों के मैत्रीभाव का एक चित्र, बिहारीलाल के इन शब्दों में देख लेते हैं—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगतु तपोबन सौ कियौ, दीरघ-दाघ निदाघ ॥

दुःख की सात्त्विकता—सुख के समय तो मनुष्य मदान्ध हो जाता है। नेत्रों में मद छा जाने के कारण वह अपने आपको भी नहीं देख पाता। इसी लिए, संसार भी उसे नहीं

देखना चाहता। सुख में मनुष्य को मनुष्य के प्रति ईर्ष्या हो जाती है, दुख में मनुष्य को मनुष्य के प्रति ममता। इसका कारण?—"मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है; परन्तु दुःख सबको बाँट कर।" और कवि की मार्मिकता भी इसी में है कि—"विश्वजीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला दे, जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है। .. ...हमारे असंख्य सुख हमे चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, परन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता।"

संसार के निःशब्द अमर महाकाव्य 'ताजमहल' को भी तो हम इसी लिए प्यार करते हैं कि वह केवल ताजमहल नहीं, बल्कि आँसुओं का धवल मन्दिर है। यदि उसमें हृदय की मूक वेदना का उत्कृष्ट समावेश न होता तो केवल 'उत्कृष्ट कला' के कारण ही हम उसे इतना नहीं चाहते। वेदना ने ही ताजमहल की कला को अपनी ज्योतिशिखा से चन्द्रकला की भाँति चिरउज्ज्वल और चिरद्युतिमान् कर दिया है। उसमें तो हृदय ही कलावन्त हो गया है, वेदना ही साकार कविता बन गई है; यद्यपि उस वेदना में भी बादशाहत है। ऐश्वर्य्य-मणि-मण्डित रङ्गमहल में आनन्द-विहार करनेवाले शाहजहाँ के प्रति तो हमारे मन में केवल एक रङ्गीन कौतूहल मात्र जाग उठता है;

ममता नहीं। उसके ऐश्वर्य्य-जन्य सुखों पर धावा बोलने के लिए विरोधियों के सशस्त्र सैनिक—दुर्द्धर्ष काम, क्रोध, मद, लोभ की भाँति ही—प्रतिक्षण प्रस्तुत रहते थे। रण-क्षेत्र में चारों ओर से घिरे रहने पर भी उसके प्रति हमारी समवेदना रूठी ही रहती है। किन्तु ताजमहल के उस अमरप्राण विश्वकवि शाहजहाँ के लिए हम भी आठ-आठ आँसू रो देते है, जिसकी करुणोज्ज्वल कृति को लक्ष्य कर कविवर रवीन्द्रनाथ ने कहा है—

एक बिन्दु नयनेर जल
कालेर कपोल-तले शुभ्र समुज्ज्वल ए ताजमहल।

(काल के कपोलतले ताजमहल शुभ्र-समुज्ज्वल एक बिन्दु अश्रु मात्र है।)

विश्ववीणा का प्रथम स्वर—अनादि विश्ववीणा से जो प्रथम स्वर निकला, वह वेदना का ही विकल स्वर था। इसी लिए हम जन्म के प्रथम क्षण से ही क्रन्दन करते हुए माँ की गोद में आधार लेते हैं। वेदना ही हमारे जीवन की मूल-रागिनी है, आदि-कवि वाल्मीकि के आर्द्र कण्ठ से एक शोकाश्रु-बिन्दु ही एक श्लोक होकर विश्व-काव्य का प्रथम गान बन गया था। कवि पन्त ने ठीक कहा है—

"विश्व का काव्य अश्रु कण।"

सुख दुख दोनो ही उस विश्व-गायक के मनोहर छन्द हैं। इसी लिए मेरे कवि ने कहा था—

सुख से पुलकित जग-जीवन यह,
दुख से पीड़ित मानव मन,
दोनों ही उस चिरसुन्दर की
अमर साधना के साधन।
सुख तो प्रियतम का धन है ही,
दुख भी प्रियतम का ही धन;
सुख दुख-मय मंगल-जीवन में
हँस-हँस ले रे मानव-मन!
मेरे सुख में सुन्दर की छवि
उज्ज्वलतर से उज्ज्वलतर,
मेरे दुख में प्रियतम की छवि
कोमलतर से कोमलतर। —'हिमानी'

यदि हम अपने चिरसुन्दर प्रियतम की झाँकी, खिले हुए पूर्णचन्द्र में देखें तो हमें अपनी सुखी घड़ियों में ऐसा जान पड़ेगा कि वह आनन्द से उज्ज्वलतर है; दुखी घड़ियों में वही हमें करुणा से कोमलतर जान पड़ेगा।

मनुष्य सुख में तो अपने आनन्द से छककर मतवाला हो जाता है; परन्तु दुख में व्यथा से पीड़ित होकर अधीर और पागल। वह यह नहीं सोचता कि जिसके सुख का हम हँसते हुए स्वागत करते हैं उसके दिये हुए दुख की अवहेलना क्यों करें! हम मद का लुत्फ़ तो चाहते हैं किन्तु उसकी

कड़वाहट से मुँह बिचका देते हैं। ऐसों को ही विहारीलाल ताकीद कर गये है—

दियौ, सु, सीस चढ़ाइ लै आछी भाँति अएरि।
जापैं सुख चाहतु लियौ, ताके दुखहिं न फेरि॥

हाँ, दुख भी उतने ही स्वागत की वस्तु है जितना कि सुख; क्योंकि कवि के शब्दो में—

तरसते हैं हम आठों याम
इसी से सुख अति सरस, प्रकाम;
झेलते निशिदिन का सग्राम
इसी से जय अभिराम;
अलभ है इष्ट अतः अनमोल
साधना ही जीवन का मोल। —पन्त

इसी लिए तो—

"बिना दुख के सब सुख निस्सार
बिना आँसू के जीवन भार।"

यह दुख, यह वेदना ही तो हमे उस करुणामय से मिला देती है, जिसकी लीला का विस्तार यह संसार है—

न होतो आह तो तेरी दया का क्या पता होता।
इसी से दीन जन दिन रात हाहाकार करते हैं॥
हमें तू सीचने दे आँसुओं से पन्थ जीवन का।
जगत के ताप का हम तो यही उपचार करते हैं॥

तुझे हँसता हुआ देखे किसी दुखिया के मुखड़े पर।
इसी से सत्पुरुष प्रत्येक का उपकार करते हैं॥

—रा० न० त्रिपाठी

हाँ तो, कवि को वेदना भी उतनी ही प्रिय है जितनी किसी प्रियतम की छवि, और इसी लिए वह कहता है—

आज वेदने! आ तुझको भी
गा-गाकर जीवन दे दूँ—
हृदय खोल के रो-रोकर!

× ×

जिस मलिन्द की छवि मदिरा की
मादकता तू लाई है,
पिला-पिला जिसको नयनों को
तूने प्यास बढ़ाई है;
उसे तुझी में पाकर तुझको
अपना नवयौवन दे दूँ—
सजनि! विमूर्च्छित हो-होकर! —पन्त

हृदय का यह कितना तन्मय उत्सर्ग है!

——

काव्य की लाञ्छिता कैकेयी

वह दीन दुर्बल-नारी—कैकेयी समस्त भारत की सबसे उपेक्षिता दुर्बल नारी है। इस एक अबला को, सहस्र युगों से, कवियों द्वारा ही नहीं, जनसाधारण द्वारा भी जितनी घृणा, लाञ्छना, अवहेलना और प्रतारणा, मिलती चली आ रही है, उतनी संसार के इतिहास में शायद किसी भी नारी को नहीं मिली होगी। अपने कर्म-दोष के लिए कैकेयी को परलोक में क्या-क्या फल भोगना पड़ा होगा, यह हम नहीं जानते। परन्तु लोक-समुदाय ने त्रेता से लेकर अब तक उसकी जितनी भर्त्सना की है, उतनी भर्त्सना ही भला किसी परलोक के दण्ड से क्या कम है?—हजारों नरक भी तो उसकी उस यन्त्रणा की तुलना नहीं कर सकते, जो उस अभागिनी नारी को, इस विश्व की लाञ्छनाओं से, मिली है।

रामायण में गोस्वामी जी ने कैकेयी के प्रति कुछ सहानुभूति-पूर्ण दृष्टि बनाने का प्रयत्न किया है। राम के प्रति उसका पूर्व-वात्सल्य, तत्पश्चात्, देवताओं के कुचक्र से उसका मतिभ्रंश होना, उसके मातृहृदय की विवशता को ही प्रकट करता है। परन्तु, हम देवताओं के कुचक्र पर आक्रोश न प्रकट करके एकमात्र कैकेयी पर ही अपनी सम्पूर्ण घृणा-शक्ति क्यों खर्च कर

देते हैं! जान पड़ता है, कैकेयी के मतिभ्रम के लिए देवों के कुचक्र की भूमिका बाँधकर भी गोस्वामी जी ने कैकेयी के कलङ्क को ही इतनी प्रधानता दे दी कि, रामायण के धार्मिक प्रेमियों के मन में उस अभागिनी माँ के लिए तनिक भी क्षमा का भाव नहीं रह गया। इसमें गोस्वामी जी का दोष नहीं है। महात्मा गान्धी के शब्दों में—"तुलसीदास जी सुधारक नहीं थे। वे भक्त-शिरोमणि थे। (रामायण में) हम तुलसीदास जी के दोषों का नहीं, परन्तु उनके युग के दोषों का दर्शन अवश्य पाते हैं।"

सहानुभूतिशील दृष्टि—परन्तु आज युग बदल गया है। वर्तमान युग का कलाकार, जनसाधारण का सुधारक भले ही न हो, परन्तु वह जनसाधारण का अनुयायी भी नहीं है। इस युग का साहित्य जन-साधारण की दृष्टि के सामने, अपनी प्रतिभा के सर्चलाइट से हृदय का एक ऐसा उज्ज्वल प्रकाश आलोकित करता है, जिसकी किरणों में हम मनुष्य को उसी स्नेह, सहानुभूति और ममता की आँखों से देख सकते हैं, जिस प्रकार हम अपने को देखते हैं। अपने पाप और पुण्य, हास और अश्रु में जिस प्रकार हम दूसरों से समवेदना की आशा रखते हैं, उसी प्रकार, उसी हृदय से, दूसरों को भी हम देखें-समझें और अपनी मानवी सहानुभूति प्रदान करें, यह इस युग के साहित्य की पुकार है और इसी लिए इस युग का संवेदनशील कवि कहता है—

"दीन दुर्बल है रे संसार;
इसी से क्षमा, दया औ' प्यार।"

अपने 'साकेत' महाकाव्य में गुप्त जी ने भी कैकेयी को पूर्ण सहानुभूति की दृष्टि से ही देखा है। अष्टम सर्ग में, जब सम्पूर्ण साकेत नगरी, भरत की प्रमुखता में राम को मनाने के लिए एकत्र होती है, उस समय कैकेयी के हृदय का पश्चात्ताप हृदय में अनुभव करते ही बनता है। इस प्रसंग को पढ़ने के पूर्व, मेरे मन ने अधीर होकर कहा—आखिर, इस हतभागिनी अबला को अभी संसार कब तक कोसता रहेगा। इस अभागिनी के दुर्भाग्य का अन्त कब होगा!

इस प्रश्न के मन में उठते न उठते, 'साकेत' की कैकेयी की यह विकल वाणी सुन पड़ती है—

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी!"

सुकरुण प्रतिमा—इन शब्दों में कैकेयी के आर्त्त हृदय की कितनी करुण बेबसी है। उसे अपने किये पर पछतावा ही नहीं, बल्कि अन्ध-लोकमत को समालोचना के लिए अपनी ओर से एक बात मिल जाने के कारण, अपने दुर्भाग्य के प्रति खीझ भी है।

कैकेयी के इन आह-पूर्ण शब्दों-द्वारा गुप्त जी ने उसे हमारे बीच में बड़ी करुणा से सजीव कर दिया है; जान नहीं पड़ता कि हम बीते युग की कैकेयी के ये शब्द सुन रहे हैं, बल्कि ऐसा

मालूम पड़ता है कि दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए, आँखों में आँसू भरे हुए, मुख पर सम्पूर्ण युगों की लाञ्छना का विषाद लिये हुए, वह आज भी हमारे बीच में नियति की निष्ठुरता को निहोरा दे रही है। उसका सौभाग्य-हीन मस्तक न तो लज्जा से नीचे झुका हुआ है और न गौरव से ऊपर उठा हुआ है; केवल एक निरीहता-पूर्ण बेबसी के कारण उसका मातृमुख, लज्जा और गौरव के बीच में विवर्ण-सा दिखाई पड़ता है। कैकेयी के उपरोक्त उद्‌गार से उसका एक ऐसा ही मार्मिक चित्र आँखों के सामने अङ्कित हो जाता है।

कैकेयी के मतिभ्रम का कारण, गोस्वामी जी ने रामायण में देवताओं का स्वार्थ-पूर्ण कुचक्र दिखलाया है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में यह अलौकिक देवलीला, मनस्तत्त्व के आलोचकों को कहाँ तक युक्तिपूर्ण जान पड़ेगी, भगवान् जानें। परन्तु, गुप्त जी ने 'साकेत' में कैकेयी के चरित्र को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही समझने का संकेत किया है। कैकेयी कहती है—

> देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है,
> दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहाँ फलती है।

शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष—मानव-हृदय में दैवी और दानवी, दोनों ही वृत्तियाँ शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की भाँति, प्रकाश और अन्धकार फैलाती रहती हैं। कैकेयी के जीवन का वह कृष्ण-पक्ष था, जब उसके भीतर दानवी वृत्ति जाग पड़ी थी।

जीवन में जब कृष्णपक्ष आता है तब उसके सघन अज्ञाना-न्धकार में सामने का सीधा मार्ग भी नहीं दिखाई पड़ता। कैकेयी भी उस अन्धकार में भटक गई तो आश्चर्य ही क्या! उसके अपराध की गुरुता हमें इसलिए अधिक जान पड़ती है कि उसने अपनी दुर्वृत्ति का परिचय साक्षात् भगवान् राम के प्रति दिया। यों, साधारण दृष्टि से घरों के भीतर जैसी सौतिया डाह तथा अपने सगे पुत्र के प्रति माँ की अधिक ममता दिखाई पड़ती है, बस वैसा ही एक स्वभाव-दुर्बल नारी-चरित्र कैकेयी का भी है। भरत की अनुपस्थिति में राम का राज्याभिषेक एक अन्तःपुरवासिनी आर्य-नारी को स्वभावतः संशय और भ्रम में डाल देता है। वह समझने लगती है कि इसमें कौशल्या का भी कुछ छल है। वह जान नहीं पाती कि इसमें अदृष्ट का क्या खेल है। 'साकेत' के तृतीय सर्ग में वह स्वयं कहती है—

तुझे क्या हे अदृष्ट, है इष्ट ?
सूर्यकुल का हो आज अनिष्ट ?

× ×

हाय, तब तूने अरे अदृष्ट,
किया क्या जीजी को आकृष्ट ?
जानकर अबला, अपना जाल—
दिया है उस सरला पर डाल ?

किन्तु हा ! यह कैसा सारल्य ?
सालता है जो बनकर शल्य ।
भरत-से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उसे जो गेह !

इसी को तो अदृष्ट का खेल कहते हैं—स्वयं अदृष्ट ने कैकेयी को भोली अबला जानकर उस पर अपना जाल फैला दिया और कैकेयी समझती है कि जीजी कौशल्या ही अदृष्ट के जाल में फँस गई हैं ! कैकेयी के इस अज्ञान पर क्रोध नहीं, करुणा उत्पन्न होती है ।

कैकेयी अपनी कुत्सित वृत्ति के लिए हठीली नहीं है । अदृष्ट का अन्धकार आँखों के सामने से हट जाने पर जब सब बातें प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जाती हैं, तब उसके हृदय की देववृत्ति (शुक्लपक्ष) जागकर उससे भूरि भूरि पश्चात्ताप कराने लगती है । परन्तु वह अपनी भूल के लिए न तो किसी से दया चाहती है और न अपने अपराध को दासी मन्थरा के मत्थे मढ़कर निश्चिन्त हो जाना चाहती है, बल्कि कहती है—

क्या कर सकती थी मरी मन्थरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी ।

× × × ×

हा ! दण्ड कौन, क्या उसे डरूँगी अब भी ?
मेरा विचार कुछ दया-पूर्ण हो तब भी ।

हा दया ! हन्त वह घृणा ! अहह वह करुणा !
वैतरणी-सी है आज जाह्नवी-वरुणा !!
सह सकती हूँ चिरनरक सुने सुविचारी,
पर मुझे स्वर्ग की दया, दण्ड से भारी।

उसके इस कथन में कितना स्वाभिमान है! उसका यह स्वाभिमान उस राजरानी के गौरव के अनुरूप ही है। जब अपराध करने में ही उसका मस्तक नीचे नहीं झुका, तब उसके प्रायश्चित्त में ही वह क्यों नीचे झुकेगा! 'साकेत' के कवि ने कैकेयी के गौरवपूर्ण मस्तक को कहीं भी अवनत नहीं होने दिया, यह उसकी सहृदयता है।

स्वाभिमान की मूर्त्ति—आखिर कैकेयी के मन में स्वाभिमान हो क्यों नहीं? जिसके लिए उसने अपराध किया, उस निष्कलंक भरत का महत् चरित क्या उसके मातृमुख को उज्ज्वल नहीं कर देगा? कैकेयी स्वयं राम से कहती है—

तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा,
यदि वह सब पर यों प्रकट हुआ है वैसा,
तो पाप-दोष भी पुण्यतोष है मेरा
मैं रहूँ पङ्किला, पद्मकोष है मेरा।
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा,
उसने तुमको फिर आज भुजा भर भेंटा।

और उस भरत की महत्ता का क्या कहना, जिसके लिए स्वयं भगवान् ने कहा था—

उसके आशय की थाह मिलेगी किसको,
जन कर जननी ही जान न पाई जिसको !

और इसी लिए कैकेयी भी कहती है—

थूके मुझ पर त्रैलोक्य, भले ही थूके,
जो कोई कह सके, कहे, क्यों चूके,
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे !
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे !
कहते आते थे यही अभी नरदेही—
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही ।'
अब कहें सभी यह, हाय ! विरुद्ध विधाता,—
'है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता ।'

जिस कैकेयी ने भरत को जन्म दिया, उसे भला हम 'कुमाता' कैसे कह सकते हैं—उसके हृदय की सद्वृत्तियाँ ही तो भरत के रूप में साकार हैं ।

'साकेत' की कैकेयी ने तो एक प्रकार से मन्थरा को भी क्षमा कर दिया है, परन्तु क्या हम कैकेयी को क्षमा नहीं करेंगे, जिसके कारण भगवान् का लोकमङ्गल-स्वरूप फुल्ल शतदल की भाँति प्रस्फुटित हुआ !

काव्य की उपेक्षिता उर्म्मिला

विधि की वक्रता—ओह, किन घड़ियो में जनकपुर की राजकुमारियाँ इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई थीं, जिन्हें अमर वेदना के होमकुण्ड में अपने सुकुमार जीवन को जीते जी ही होम कर देना पड़ा! उनकी यज्ञाहुति से दिशाएँ तो सुवासित हो गईं, परन्तु आह, उनके हृदय के तप्तोच्छ्वास आज भी कवियों के प्राणों को अधीर कर देते हैं।

विधाता भी बड़ा कौतुकप्रिय शिल्पी जान पड़ता है। किस अनुराग से उसने सुन्दरता की चार निरुपम प्रतिमाओं की सृष्टि की, अमरावती को भी लजानेवाले जनकपुर के राज-महल में उनकी प्रतिष्ठापना की; संसार देखता था और देख-देखकर विधि की निपुणता की सराहना करता था। परन्तु कौन जानता था कि उस निर्मम खिलाड़ी ने सुन्दरता के उद्दीप्त भाल में, भीतर ही भीतर नियति की कुटिल रेखाएँ खींच दी हैं!

यह देखो, मिथिला के विवाहमण्डप में, दशरथ और जनक की आत्माओं का गठबन्धन हो रहा है। पुरकन्याएँ मङ्गलगान गा रही हैं; राजपुरोहित मन्त्रोच्चारण कर रहे हैं; बाहर सिंहपौर पर शहनाई की सुमधुर ध्वनि गूँज रही है; दिग्बालाएँ स्वर्ग के

झरोखों को खोलकर नन्दन कानन के स्वर्ण कुसुम बरसा रही हैं! भाँवरी के लिए चार जोड़ियाँ उठ खड़ी हुईं—राम के साथ सीता, भरत के साथ माण्डवी, लक्ष्मण के साथ उर्म्मिला और शत्रुघ्न के साथ श्रुतकीर्ति। कितनी मङ्गलमयी हैं ये जोड़ियाँ! न्यौछावर हैं इन पर अखिल लोकों की ऋद्धि-सिद्धियाँ!!

परन्तु इसके बाद ?—

मालूम नहीं, अयोध्या के राजमहल में इनके सुख-सुहाग की सेज कभी बिछी थी या नहीं। अभी चार दिन ही तो बीते थे, शायद कण्ठ से लाज के प्रथम बोल, फूटना ही चाहते थे कि नियति की वह बङ्किम रेखा कैकेयी के हाथों बाहर साकार हो गई! अभी कल ही हम जनकपुर के तोरणाच्छादित राज-द्वार पर उत्सव और उत्साह देख आये हैं, और यहाँ अयोध्या में, अभी स्वागत के मङ्गल-कलश भी यथास्थान सुशोभित हो हैं कि एकाएक राजमहल की प्राचीरों को भेदकर एक आकाशव्यापी हाहाकार गूँज उठता है—'हा राम!' यह दिग्विजयी चक्रवर्ती दशरथ के वृद्धकण्ठ का हृदयद्रावक आर्त्तनाद है! अरे, क्या से क्या हो गया—

"अभी उत्सव औ' हास-हुलास,
अभी अवसाद, अश्रु उच्छ्वास!"

यह लो, अब तो राम लक्ष्मण वनवास के लिए प्रस्तुत हो रहे हैं; चिरकोमला सीता भी उनके साथ ही चलीं—

"पुर ते निकसी रघुबीर-बधू
धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की
पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिरि बूझति हैं—'चलनो अब केतिक,
पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै ?'
तिय की लखि आतुरता पिय की
अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥"

हाय, फिर भी वे कमल-कोमल-चरण, कठिन कुशकण्टकों को पार करते हुए, अपने पथ पर अग्रसर होंगे ही! अरे, जनकपुर के मङ्गल समारोह के बीच क्या इसी कुघड़ी को जगा देने के लिए परशुराम अमङ्गल की भाँति प्रकट हुए थे!!

अकाल-संन्यास—उधर राम-लक्ष्मण-सीता वनवास को चले गये, इधर भरत-शत्रुघ्न तथा माण्डवी, श्रुतकीर्ति और उर्म्मिला ने राजभवन में ही वनवास ले लिया। अयोध्या और जनकपुर के राजपथ में भी अब चहल-पहल नहीं रही, केवल धूलिधूसरित अन्धड़ चारों ओर बौड़िया-बौड़ियाकर, शून्य में एक सन्तप्त उच्छ्वास छोड़ जाता है।

क्यों न, राजकुमार तपस्वी हो गये, राजकुमारियाँ तापसी हो गईं! उनके इन्दुमुख तपस्या की ज्योति से अब भी दीप्तिमान् हैं, किन्तु आँखों में करुणा के सजल कण भरे हुए

हैं। अरे, सद्य:परिणीत हृदयों के नवल प्रणय ने अकाल में ही कैसा संन्यास ले लिया !

अयोध्या के तपस्वी राजकुमार अपनी-अपनी कर्त्तव्य-निष्ठा में तन्मय हैं, जीवन की किसी महान् साधना में लीन हैं, किन्तु जनकपुर की ये तापसी कन्याएँ किस सम्बल को लेकर धीरज धरें ? वे प्रकृति से ही सुकोमला हैं, अबला हैं; उनकी तो पति ही तक सम्पूर्ण गति-मति है। उनके सामने ही उनके इष्टदेव हैं, परन्तु वे अपने इष्टदेव की पूजा उनसे दूर रहकर मन के एकान्त में ही कर सकती हैं, समीप रहकर नहीं। हाँ, वे सधवा हैं, किन्तु किस विधवा के जीवन की साधना इतनी कठोर होगी, जितनी उन तापसी राजकन्याओं की ! इसी लिए तो कवि के विगलित कण्ठ ने क्रन्दन किया है—

> अबला-जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
> आँचल में है दूध और आँखों में पानी !
>
> —'यशोधरा'

वह चिरमूक नववधू—रामायण के नारी-चित्रों में, सीता के बाद, सबसे अधिक हृदय-द्रावक चित्र है उर्म्मिला का ! सीता के बाद हम इसलिए कहते हैं कि वे ही एक ऐसी तपस्विनी हैं जो चिरदु:खिनी रहीं—वेदना की कठोर भूमि से उनका जन्म हुआ था और वेदना की कठोर भूमि मे ही वे समा गईं ! अयोध्या की अन्य राजवधुओं

का सुहाग फिर लौटा, परन्तु वह सीता अपना सुहाग फिर न मना सकीं।

हाँ, उर्म्मिला का सुहाग भी, माण्डवी और श्रुतकीर्ति की भाँति, फिर एक बार जाग पड़ा था; परन्तु इस सुहाग के स्वागत के लिए उसे अपनी उन दो बहिनों की अपेक्षा कितना अधिक तप करना पड़ा था। माण्डवी और श्रुतकीर्त्ति की अनुराग भरी आँखों के सम्मुख भरत और शत्रुघ्न साक्षात् थे, किन्तु उस उर्म्मिला के नयन-मनोरम लक्ष्मण न जाने कितनी दूर देश में उसके दृगों को सूना किये हुए थे!

रामायण के कवि चिरदुःखिनी वैदेही की वेदना से द्रवीभूत होकर माण्डवी और श्रुतकीर्त्ति को भूल गये, परन्तु यह भूल उतनी नहीं अखरती जितनी उर्म्मिला की उपेक्षा! इस युग के विश्वकवि रवीन्द्रनाथ का करुणाकण्ठ उस उपेक्षिता नववधू की मूक वेदना से स्नेहार्द्र होकर बोल उठा है "हाय, चुपचाप वेदना सहनेवाली देवी उर्म्मिला! तुम प्रभात काल के शुक्रतारा के समान महाकाव्य-सुमेरु के शिखर पर एक ही बार दिखाई पड़ीं, उसके बाद अरुण के प्रकाश में तुम्हारा दर्शन फिर नहीं हुआ। लोग यह पूछना भी भूल गये कि तुम्हारे उदय और अस्त का स्थान कहाँ है!

उर्म्मिला को हमने मिथिलापुरी की विवाह-सभा में, वधूवेश में देखा है। तदनन्तर, जब से रघुराज-वंश के विशाल

अन्तःपुर में उन्होंने प्रवेश किया तब से फिर एक बार भी उनके दर्शन नहीं हुए। वही उनके वैवाहिक वधूवेश का चित्र हृदय में अङ्कित रह गया। उर्म्मिला सदा बहू और चुप जान पड़ती है। भवभूति के 'उत्तररामचरित' में भी उसका वही मूक चित्र थोड़ी देर के लिए प्रकाशित हुआ है। सीता ने केवल एक बार स्नेह-पूर्वक उस चित्र पर उँगली रखकर अपने देवर लक्ष्मण से पूछा था—'वत्स, यह कौन है ?'

लक्ष्मण ने लजीली मुस्कान के साथ अपने मन में कहा—'आर्या उर्म्मिला के बारे में पूछ रही हैं!'—यह कहकर उसी समय उन्होंने लज्जा, से उस चित्र को छिपा दिया। इसके बाद रामचन्द्र के अनेक विचित्र सुख-दुःख के चित्रों में फिर एक बार भी किसी ने कौतूहल की उँगली उस चित्र पर नहीं रक्खी। कैसे रक्खे, वह तो केवल वधू उर्म्मिला है!

उर्म्मिला ने पहले-पहल जिस दिन माँग में सिन्दूर लगाया था, उसी दिन के समान वह सदा ही नववधू है। किन्तु जिस दिन रामचन्द्र के मङ्गलाभिषेक की तैयारी में अन्तःपुर की स्त्रियाँ व्यग्र थीं, उस दिन यह नववधू भी क्या रघुकुल की अन्य लक्ष्मियों के साथ उत्साहपूर्वक प्रसन्नता के काम-काज में लगी हुई न थी ? और जिस दिन अयोध्या अँधेरी करके दोनों भाई सीता को साथ लेकर तपस्वी के वेष में वन चले गये थे, उस दिन क्या यह नववधू भी राजभवन के किसी एकान्त

कमरे में डण्ठल से गिरी हुई कली के समान मूर्च्छित नहीं हुई थी ? उस दिन के उस विश्वव्यापी विलाप में इस छोटे-से कोमल हृदय का असह्य शोक क्या किसी ने देखा था ? जिन महर्षि का हृदय विरहिणी क्रौञ्च-वधू के वैधव्य दुःख को पल भर भी न सह सका, उन्होंने भी आँख उठाकर एक बार इस दुखिया की ओर नहीं देखा !

वीर लक्ष्मण ने रामचन्द्र के लिए सब तरह का स्वार्थ त्याग किया है। परन्तु सीता के लिए उर्म्मिला ने जो आत्म-त्याग किया वह और भी उज्ज्वल है। लक्ष्मण ने अपने देवताओं की आराधना के लिए केवल अपने को अर्पण किया है, किन्तु उर्म्मिला ने अपने से भी अधिक अपने स्वामी को दे डाला है !"

उमा और उर्म्मिला—'उर्म्मिला' !—कितना कोमल है यह प्यारा नाम ! जितनी ही इसमें कोमलता है, उतनी ही करुणा भी। हाँ, वह मूर्त्तिमती कोमलता है; वह मूर्त्तिमयी करुणा है।

उर्म्मिला के साथ ही तपस्विनी 'उमा' का भी स्मरण आ जाता है, किन्तु 'उर्म्मिला' और 'उमा' में समता ही कितनी ! उमा ने अखण्ड तपस्या करके अचल सुहाग पाया था; उर्म्मिला ने अपने अचल सुहाग को ही अखण्ड तपस्या बना दिया था ! चौदह वर्ष की अखण्ड तपस्या के बाद जब उसने अपने देवता को पुनः पाया, तब स्वागत के लिए उसके जीवन में भला रह ही

क्या गया था !---केवल अश्रुभरी दो आँखें ही न ! वे सजल आँखें ही मानो कहती हैं—

पर यौवन-उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं ?
वह खोया धन आज कहाँ सखि ! पाऊँगी मैं !

× × ×

विरह रुदन में गया, मिलन में भी मैं रोऊँ;
मुझे और कुछ नहीं चाहिए, पद-रज धोऊँ ।

—'साकेत'

वाल्मीकि और तुलसीदास इस एकाकिनी अश्रुमुखी नव-वधू को भूल गये, परन्तु अब ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है, त्यों-त्यों उस धूमिल अतीत की नीहारिका को पारकर, अर्वाचीन कवि उर्म्मिला के विस्मृत स्वरूप पर अपनी प्रतिभा का उषःप्रकाश डाल रहे हैं। उर्म्मिला को भूलकर अब हम उसका मूल्य जान गये हैं; उसे खोकर ही अब हम उसे खोज रहे हैं ।